।। श्रीमते रामानन्दाय नमः ।।

शुभ कामना

श्रीरामानन्द सम्प्रदायाचार्य ज० गु० श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्यजी महाराज सादर साष्टाङ्ग दण्डवत्।

आप ईशावाश्य पर जो परमोपयोगी भाष्य प्रकाशन करने जा रहे हैं, अतः इस विशुद्ध सम्प्रदाय सेवाके लिए मेरा हार्दिक अभिनन्दन है। इसके पूर्वभी आपने श्रीसम्प्रदाय मन्थन, श्रीगीता भक्ति-दर्शन जैसे विशुद्ध श्रीसम्प्रदाय परक ग्रन्थरत्नोंका प्रकाशन करके बड़ा ही महत्व-पूर्ण कार्य किया है। भगवान् श्रीरामजी आपको सफलता प्रदान करें, हमारी यही शुभकामना है।

आपका विश्वासु श्रीब्रह्मपीठाधीश काठियापरिवाराचार्य
श्रीमहान्त रामकिशोरदास, गुजरात

शुभ कामना

अनन्त श्रीविभूषित ज० गु० रा० स्वामी हर्याचार्यजी महाराजको सादर सप्रेम दण्डवत।

आपने श्रीसम्प्रदाय मन्थन, गीता भक्ति-दर्शन, श्रीसम्प्रदाय समयः ऐसे अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रन्थोंका निर्माण करके श्रीरामा-नन्द सम्प्रदाय समृद्ध कर इसका गौरव बढ़ाया है, जो सर्वथा स्तुत्य है। अब ईशावास्योपनिषद् ऐसे महत्वपूर्ण उपनिषद् पर श्रीहरिभाष्य कर रहे हैं, जो सम्प्रदायके लिए अत्यन्त उपादेय है। इसके प्रति मेरी शुभकामना है एवं श्रीसीतारामजीसे प्रार्थी हूँ कि आप दीर्घजीवी हों और सम्प्रदायमें और अधिक साहित्य सर्जन हो, जिससे सम्प्रदाय समृद्धवान् बन सके।

आपका—
म० रघुवीरदास खाकी
(लाल बाबा) इन्दौर

मेरी दृष्टिमें श्रीगीता भक्ति-दर्शन

अनादि वैदिक श्रीरामानन्द सम्प्रदायके वर्तमान आचार्य श्रीसम्प्रदाय मन्थन जैसे दिव्य ग्रन्थ रत्नके प्रदाता विद्वत्प्रवर साधुता, वैष्णवताके मूर्तिमान स्वरूप परम श्रीसीताराम पदारविन्दनिष्ठ भगवत्-पाद जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पूज्यपाद १००८ श्रीस्वामी हर्याचार्यजी महाराज द्वारा प्रणीत गीता भक्ति-दर्शन नामक १२वाँ अध्याय पर अतिसरल हिन्दी भाष्य आदिसे अन्त तक पढ़ गया, एकही बार नहीं तीन-तीन बार पढ़ गया, इसलिए मेरी दृष्टिमें श्रीचरणों द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थरत्न सर्वांग सुन्दर है और मननीय है।

द्वादश अध्यायके एक-एक श्लोक की जो संक्षिप्त और अति-सुन्दर सरल व्याख्या आचार्य चरणोंने की है वह श्रीरामकृष्ण उपासकों के लिए वास्तवमें जीवन धन है। विद्वत् जगत् से लेकर हमारे जैसे सामान्य साधकोंके लिए यह भक्ति-दर्शन वास्तवमें परमोपयोगी है और **"बुध विश्राम सकल जन रंजनि"** है। जो इसे भावपूर्वक पढ़ेगा उसे अवश्य शान्ति प्राप्त होगी और जो अन्य भावसे पढ़ेंगे उन्हें भी मनोरंजन तो होगा ही। किसी पूर्वाग्रहसे वे भलेही सत्यको स्वीकार न पावें यह उनकी अपनी ही दृष्टि का दोष माना जा सकता है **"जाकी रही भावना जैसी"** परन्तु मेरी दृष्टिमें यह ग्रन्थभी श्रीसम्प्रदाय मन्थन की भाँति सर्वांग सुन्दर है। श्रीरामानन्द सम्प्रदायमें वर्तमान समयके सजग प्रहरी श्रीसम्प्रदायके महान रत्न, समीक्षा सम्राट् दर्शन केशरी पण्डित-प्रवर श्रीवैदेहीकान्त शरणजीने परम सत्यही लिखा है कि "श्रीसम्प्रदाय-मन्थन श्रीरामानन्द सम्प्रदायका अमृत है" जिसका पान करके मानव परमशान्ति प्राप्तकर सकता है। यह दो लाइन का भावपूर्ण अभिप्राय उनका है जिनके रोम-रोममें श्रीरामानन्दीयत्व कूट-कूटकर भरा है। श्रीपण्डितजी महाराज श्रीरामानन्द सम्प्रदायके पावन इतिहासमें उसी तरह अमर रहेंगे, जैसे वेदोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी भाष्यकार पण्डितराज सारस्वत सार्वभौम श्रीरामानन्द सम्प्रदायके महानिधि जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी महाराज आप अमर हैं। अस्तु,

आचार्यचरण स्वामी हर्याचार्यजी का यह भक्ति-दर्शन वस्तुतः भक्ति सुधा है। आचार्यचरण दर्शनके तीसरे पृष्ठमें लिखते हैं कि "भक्त जब भगवान्में पूर्ण श्रद्धावान् हो जाता है उसके जीवनके चरमलक्ष्य भगवान् हो जाते हैं, तब उसके जीवनके प्रत्येक क्रिया-कलाप जप, ध्यान, पूजा, पाठ, व्यावहारिक, शारीरिक तथा जीवन वृत्ति आदि सम्बन्ध नित्य निरन्तर भगवानसे बना रहता है।

यह कथन परम सत्य और उत्तम है, परन्तु यह अनुभव तो उसीको हो पाता है जिसे सतत प्रभुका अनुभव होता रहा हो। इस प्रकार आचार्य चरणोंने जो पूरे अध्यायकी भक्तिपरक व्याख्या की है वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

द्वादश अध्यायकी संक्षिप्त हिन्दी भाष्य की व्याख्या समाप्त होनेके बाद आचार्य भगवान्ने, १-भक्ति रस मानव जीवनका अमृत है, २-पञ्चतत्वजयी हनुमान, ३-भगवान् रामानन्दाचार्यजी द्वारा दलितोद्धार ४-रामराज्य की नींव उनकी चरणपादुका, ५-हिन्दुत्व का आधार, ६-आधुनिक भारतमें रामानन्द स्वामीका प्रभाव" आदि जो निबन्ध लिखे हैं वे तो पढ़ते-पढ़ते जब समाप्त होते हैं तो एक धक्का सा लगता है कि यह निबन्ध थोड़ा और विस्तारसे लिखा गया होता तो कितना अच्छा होता। इसीलिए मैं पुनः अपने हृदयोद्गार प्रगट करते हुए विनम्र भावसे यह कह रहा हूँ कि गीता भक्ति-दर्शन मेरी दृष्टिमें सर्वांग सुन्दर और दिव्य है। श्रीवैष्णवोंके लिए अमूल्य निधि है तथा सनातन जगत्के साहित्य भंडार का अनुपम पुष्प है। जिसकी सुगन्ध सर्वदा मानव मनको भगवान्की ओर खींचा करेगी।

अन्तमें भगवत्पाद आचार्य चरण कमलोंमें शतशः वन्दन करते हुए विराम लेता हूँ।

जय श्रीराम
श्रीचरणानुचर
खाकी बापू

दिव्यामृत

अनन्त श्रीविभूषित प्रातःस्मरणीय श्रीसम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य पूज्यपाद स्वामी श्रीहर्याचार्यजी महाराजद्वारा लिखित "श्रीसम्प्रदाय मन्थन" के बाद एकही वर्षमें "गीता भक्ति दर्शन" श्रीसम्प्रदाय एवं सगुणोपासक भक्तोंके लिए अमृततुल्य है। वास्तवमें पूज्य आचार्य चरणोंने गागरमें सागर भर दिया है। जिसमें सगुण-निर्गुणमें सगुण भक्तिकी महत्ता, भक्तिरस मानव जीवनका अमृत है यह प्रतिपादित है। पञ्चतत्वजयी हनुमान, भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी द्वारा दलितोद्धार, रामराज्य की नींव उनकी चरणपादुका, हिन्दुत्वका आधार और आधुनिक भारतमें ज० गु० श्रीरामानन्द स्वामीका प्रभाव, आदि प्रसंगोंको आचार्य चरणोंने बड़े ही मौलिक ढंगसे अपनी विद्वताकी शैलीमें अपने हृदयके दिव्य भावोंको इस पुस्तकमें व्यक्त किया है। मुझे विश्वास है कि इसको पढ़कर अवश्य सभी वैष्णवजन श्रीसीताराम पदारविन्दों की भक्तिको प्राप्त करेंगे।

पूज्य आचार्य चरणोंको प्रभु स्वस्थ दीर्घायु प्रदान करें ताकि श्रीसम्प्रदाय, राष्ट्र व समाज तथा सनातन धर्मको ऐसे दिव्य साहित्य का लाभ मिलता रहे।

महन्त गंगादास गुरु श्रीस्वामी केशवदासजी खाकी

स्वामी भगवदाचार्य आश्रम, कर्णावती

तथा

भगवद्धाम विरार, बम्बई

सद्धर्म बताये

सीताराम गुणानुवाद सब शास्त्रहुँ गावैं।
तदपि न पावैं पार वेद कहि नेतिहि गावैं ॥१॥
सोई प्रभु भू-भार हरण भूतल पर आये।
धर्यो मनुज अवतार जगद्गुरु नाम धराये ॥२॥
रामानन्दाचार्य कर्यो सब पर उपकारा।
कीन्ह धर्म उद्धार धरनि पर भक्ति पसारा ॥३॥
द्वादश शिष्य बनाय जगत से भेद मिटाया।
रामानन्दाचार्य भक्ति का माग बताया ॥४॥
भयौं परस्पर प्रेम सभी ने सुख अति पायो।
खाकी गंगादास चरन कमलन सिर नायो ॥५॥
समता करे प्रदान वही आचार्य कहावे।
करे भेद निर्माण कहो कैसे सुख पावे ॥६॥
बाढ़ो भेद महान संत पालकी उठाये।
कीन्ह प्रबल प्रतिकार भगवदाचार्य कहाये ॥७॥
शास्त्रार्थ कर विजय विरोधी जन सब हारे।
रामानन्दाचार्य भगवदाचार्य हमारे ॥८॥
भाष्यकार महाराज सदा सद्मार्ग बताये।
स्वामि भगवदाचार्य प्रभू के धाम सिधाये ॥९॥
स्वामि शिवरामाचार्य तभी गादी पर आये।
हरि सम हर्याचार्य सकल संतन मन भाये ॥१०॥

० ० ० ० ०

गावत नित गुणगान राम का खाकी बापू।
वरनत गंगादास गुरू मम केशव बापू ॥
धन धन मेरो भाग्य जो ऐसे सद्गुरु पाये।
राम कथा अनुराग दीन्ह सदधर्म बताये ॥

श्रीमहन्त गंगादास खाकी

आचार्य परम्परा में श्रीस्वामी हर्याचार्यजी महाराज

वैदिक जगत के लगभग सभी आचार्यों ने वेद उपनिषद् ब्रह्मसूत्र आदि पर अपने-२ भाष्य किये हैं उसी परम्परा के रक्षण हेतु अनादि वैदिक श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के विद्वत्प्रवर आचार्यों ने गीता, उपनिषद् ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी का भाष्य किया है।

श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के आद्याचार्य जगद्गुरु स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने प्रस्थानत्रयी पर आनन्दभाष्य किया है। इसी परम्परा के पंडितराज सारस्वत सार्वभौम जगदगुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी महाराजने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य कियाहै।

आज भी इसी परम्परा के वर्तमान श्रीसम्प्रदायाचार्य सकल-शास्त्र सम्पन्न वीतराग, गीता, उपनिषद भाष्यकार तथा श्रीसम्प्रदाय मंथन के जनक परम श्रीसीताराम पदारविन्दानुरागी, श्रीरामभक्ति के प्रचारक व्याकरण वेदान्ताचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी श्री हर्याचार्यजी महाराज ने श्रीसम्प्रदाय मन्थन, गीता भक्ति दर्शनमें गीता के १२ वें अध्याय पर हिन्दी भाष्य किया है। श्रीसम्प्रदाय समयः जिसको जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी भगवदाचार्यजी महाराज ने लिखा है उसकी आचार्य चरणों ने हिन्दी टीका करके सम्प्रदाय की महती सेवा की है। अभी प्रकाशित होने वाला भाष्य ईशावास्योपनिषद् पर है। इस उपनिषद में कुल १८ मन्त्र हैं। ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद संहिता का ४० वाँ अध्याय है। मन्त्र का अन्श होने से इसका बहुत ही महत्व है। यह सबसे पहला उपनिषद् है। इसके पहले मन्त्र में "ईशावास्यम्" होनेसे ही इसका नाम ईशावास्योपनिषद् पड़ा है। इसमें निम्न विषयों पर चर्चा की गई है।

प्रारम्भ में कर्म करने का सुन्दर विधान बताया गया है। उससे विपरीत आचरण करने वालों की दुर्गति का वर्णन किया गया है। परब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन सुन्दर ढंग से किया गया है। परन्तु श्रीवैष्णवाचार्यों ने इसी उपनिषद् के अपने भाष्योंमें

भक्ति प्रपत्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति मानी है। भक्त के लिए अन्तकालमें परमेश्वर की प्रार्थना का विधान बताया गया है। उपासक शरीर त्याग के समय सात्विक•भाव से ईश्वर की प्रार्थना करता है। उसके वाद अर्ची मार्ग का वर्णन किया गया है। यहीं पर ईशावास्योपनिषद पूर्ण होता है।

वर्तमान आचार्यचरण का भाष्य भी भक्तिपरक अनुपम भाष्य है। पूज्यपाद आचार्यचरण विद्वान होने के साथ ही भक्तिके मूर्तिमान स्वरूप हैं। पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज लिखते हैं-

सोइ सर्वग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पण्डित दाता ॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता ॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना ॥
सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा ॥

पूज्यपाद आचार्य चरण मन वचन कर्म से श्रीराम पदारविन्द-चरणकमलानुरागी हैं। आपके प्रवचन, भक्तिपरक लेख पढ़कर जीवन में शान्ति का अनुभव होता है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि यह भक्तिपरक ईशावास्योपनिषद् भाष्य भक्तजनों को पूर्ण शांति प्रदान करेगा।

ले: पं० पवनकुमार दास शास्त्री
कर्णावती

गीता भक्ति दर्शन की विशेषता

–रामसकल दास शास्त्री

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य, श्रीस्वामी हर्याचार्यजी महाराज द्वारा लिखित "श्रीसम्प्रदाय मथन" और जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीभगवदाचार्यजी द्वारा लिखित "श्रीसम्प्रदाय समयः" की व्याख्या के बाद "गीताभक्ति दर्शन" भी आपकी एक उत्तम कीर्ति है।

जैसे सूर्यके प्रकाशसे संसार प्रकाशित होता है और क्रियाशील भी होता है। उसी प्रकार महान पुरुषों के द्वारा बताये शास्त्रविहित

कर्तव्य और धर्म को आचरणमें लाकर संसार के मुमुक्षु साधक अपने जीवन को कृतार्थ बनाते हैं।

प्रतिपाद्य विषयको गीता, भागवत, रामायण इत्यादि सद्ग्रन्थों के युक्ति-युक्त उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है, इसलिए साधारण पढ़े लिखे जिज्ञासु और साधक अपनी जिज्ञासा और साधना के विषय में सुस्पष्ट रूपसे जानकर लाभ ले सकते हैं। आप जगद्गुरु "श्रीरामानन्दाचार्यजो" का यही उद्देश्य था कि संसारके लोग ईश्वरकी भक्तिका आश्रय लेकर सुगमतासे ससार-सागरसे पार हो सकें।

आपके द्वारा आचार्योचित इस मंगलमय कार्यसे सम्प्रदाय और ससारको बहुत लाभ होगा एवं ईश्वर अभिमुख होनेमें सुगमता होगी।

"भक्ति रस मानव जीवन का अमृत है"

इसमें संक्षेपही में भक्तिकी महिमा और स्वरूप आदिका रामायण तथा अन्य ग्रन्थोंके उदाहरणोंके द्वारा समझाया गया है, इसलिए वैष्णवों और उपासकों के लिए खूब उपयोगी है।

"पञ्चतत्त्वजयी हनुमान"

इसमें "श्रीहनुमान्‌जी" के पाँच मुख बतलाया गया है। श्रीहनुमान्‌जीने कौन मुख किस समय धारण किया था और किस लिये किया था। इस प्रकरणको आपने शास्त्रोंके उदारण देख-२ बहुत सुन्दर रीतिसे समझाया है।

"रामराज्य की नींव उनकी चरणपादुका थी"

इसमें रामराज्यकी विशेषताका वर्णन करके उसके मूलमें भगवान् श्रीरामकी "चरणपादुका" ही थी, इसको भी आपने बोधगम्य भाषामें समझाया है। इसके अतिरिक्त जब श्रीभरतजी जलनेके लिये तैय्यार हो जाते हैं, तो पादुका पुरुष रूपमें उनको समझाती है। यह प्रकरण बहुत मर्मस्पर्शी है। हे भगवत-स्वरूप आचार्यवर! आपके मंगलमय चरणकमलोंमें रामसकलदास का अनन्त साष्टांग दण्डवत् स्वीकृत हो।

अनन्त श्रीविभूषित, महामहिमशालि, श्रीमद्यतीन्द्ररामानन्द-सम्प्रदायाचार्य, वेदप्रतिष्ठापनाचार्य श्रीकाशीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्रीहर्य्याचार्यापरनामधेयमहाराज कमलकोमल पाणिपल्लवेषु बलिया मण्डलान्तर्गत शिवपुर दियरा नामक ग्रामे सुरसरित्तटे श्रीआत्मानन्द महात्मद्वारा समायोजिते विष्णुयागावसरे समर्पितमिदम् सस्नेहम्—

॥ शुभाभिनन्दनम् ॥

योगिन् ! भवच्चरणपङ्कजदर्शनेन अद्यास्त्यहो पुलकिता शुभयज्ञभूमिः। धन्यास्तु ते शिवपुरे नगरे स्थिता ये नेत्रोत्सवं नवनवं नितरां लभन्ते ।।१।। रम्येभवत्कमल कोमल सौम्यपाणौ काषायवस्त्र परिवेष्टित दिव्यभव्ये। ललाटपटले लसदूर्ध्वपुण्ड्रम् केषां न वीक्ष्यपरिशुध्यति चित्तवृत्तिः ।।२।। श्रीरामचन्द्रचरणाम्बुज भृङ्गराज ! श्रीमत्पदाब्जरसलोलुपभक्तभृङ्गः। पीत्वा रसं सुखकरं बहुमङ्गलाढ्यम् गुञ्जन्त्यहो जयजयेति सदा प्रहृष्टाः ।।३।। जन्मान्तरीय बहुपुण्यबलेन देव ! अस्माकमद्य जननं सफलं प्रयातम्। अत्रापि पूज्यचरणास्समुपस्थिता यत् तृप्यन्ति चारु नयनानि न वीक्ष्य वीक्ष्य ।।४।। दण्डं यतीन्द्र ! तवपाणितले निरीक्ष्य साश्चर्यमत्र यमदण्डधरो विभेति। संवीक्ष्य मङ्गलमयं नवमूर्ध्वपुण्ड्रम् सर्वे जना मनसि मोदमवाप्नुवन्ति ।।५।। सन्त्यत्र यद्यपि यते भवदर्चनाय, दध्यक्षतांकुरफलानि मनोहराणि। मन्ये न तच्च सकलं भवदीय योग्यम् गङ्गाजलं सपदि केवलमर्पयामि ।।६।। खेटाब्धि शून्यभुज सम्मित विक्रमाब्दे सूर्येतिथौ सुखद फाल्गुनमासिशुक्ले। श्रीमद्यतीन्द्रपदपङ्कज पूजनाय पद्यं समर्पयति पण्डित रङ्गनाथः ।।७।।

समर्पकः—

पण्डित रङ्गनाथ चतुर्वेदी यज्ञाचार्यः

(बक्सरस्थः)

भाष्य भूषण

अनादि वैदिक श्रीरामानन्द सम्प्रदायके वर्तमान आचार्य **श्रीसम्प्रदाय मन्थन** एवं **गीता भक्ति दर्शन** के हिन्दी भाष्यकार, **श्रीसम्प्रदाय समयः** पर **श्रीहरितोषिणी** टीकाके कर्ता विद्या भास्कर श्रीसीताराम-पदारविन्द अनुरागी परम बड़भागी सर्वहितकारी परमोपकारी सरस्वती के वरदपुत्र परमसंत अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य पूज्यपाद स्वामी हर्याचार्यजी महाराज द्वारा रचित यह ईशावास्योपनिषद् का हिन्दी भाष्य अतिसुन्दर तथा सबके लिए मननीय चिन्तनीय एवं सबविधि अभिनन्दनीय है। मेरे विनम्र मतसे यह भाष्य भाष्य-भूषण है क्योंकि पूज्य जगद्गुरुजीने इसे इतनी सरल भाषामें लिखा है कि विद्वत् जगत्से लेकर एक साधारण मनुष्य तक इसे सरलता-पूर्वक समझ सकता है इसलिए यह भाष्य भाष्यभूषण है। परमपूज्य गोस्वामीजीने अपने महाकाव्यके लिए जो लिखा है कि—

बुध विश्राम सकल जन रंजनि। राम कथा कलि कलुष विभंजनि ।।

अतएव यह परमोपकारी भाष्य विद्वानों और ज्ञानी पुरुषोंके लिए विश्राम स्थान होगा और साधारण जनके लिए मनमोहक तथा कलिकलुषका विभंजन करने वाला होगा। परमपूज्य आचार्य चरणोंने संक्षिप्तमें ही सभी विषयों पर सुन्दर वर्णन किया है, आपके इस महान् उपकारका सनातन जगत् सर्वदा आभारी रहेगा।

सरस्वती के वरदपुत्र :—

परमपूज्य आचार्यचरणजी वास्तवमें सरस्वतीके वरदपुत्र हैं, क्योंकि आप जिस प्रकार सुन्दर व्याख्यान देते हैं उसी प्रकार स्वतः अपने करकमलों द्वारा ही लिखते हैं। उसी प्रकार आप शास्त्रार्थ भी बड़ी शान्तिसे करते हैं। मेरे मतसे यही सरस्वतीजीके वरदपुत्र का काम है। आप निरन्तर काम करते रहते हैं और एक छोटेसे छोटे मनुष्यके साथ अति सरल व्यवहार करते हैं। आपके सभी शिष्य दो-दो तीन-तीन विषयोंके आचार्य है लेखक तथा वक्ता हैं। स्वामी महादेव-

दासजीने श्रीअवधमें ही एक भव्य धर्मस्थानकी स्थापनाकी है। स्वामी रामदेवदासजी एक अच्छे विद्वान् एवं लेखक हैं। श्रीरमेशदासजी अभी होनहार उदीयमान वैष्णव हैं।

ऐसे परमाचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्यजी महाराज वास्तवमें जगद्गुरु महाराज हैं। आपका यह भाष्य श्रीजगद्गुरु पद प्रतिष्ठित श्रीरामानन्दाचार्यजीका अर्थात् आचार्यपद का परम प्रमाण है। इस पावन ग्रन्थमें श्रीचरणोंने श्रीरामतत्व, विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त, भक्तितत्व आदि अनेक विषयोंकी बड़ी ही सुन्दर चर्चा की है। मनुष्य जीवनका अमृत भक्ति ही है। श्रीराम भक्तिरूपी मणि जहाँ है वहाँ दुःख लवलेश नहीं हो सकता। गोस्वामीजीने कहा है कि—

राम भक्ति मणि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके।।
राम भक्ति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।।

ऐसा जो भक्ति भागीरथी का सुन्दर प्रभाव है वह पूर्णरूपेण इस भाष्यमें दर्शित होता है। इसलिए यह भाष्य मेरे मतसे भाष्य-भूषण है। यह भाष्य सुरसरि की भाँति सबका हित करने वाला है। आचार्य चरणोंकी दिव्य कीर्ति पताका को इतिहासमें सर्वदाके लिए फरकता रखने वाला है। यथा—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

सन्तचरण रज
श्रीखाकी बापू, कर्णावती

भाष्य रत्न

अनन्त श्रीविभूषित अर्चनीय वंदनीय सर्वोपमालायक श्रीआचार्य भगवान् ज० गु० रा० श्रीस्वामीजीके परम पावन श्रीयुगल चरणोंमें आपका दासानुदास गंगादास खाकी का साष्टाङ्ग दण्डवत् नित्यप्रति का स्वीकार हो।

सेवा में :—

पूज्यपाद श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य ज०गु० हर्याचार्यजी महाराज द्वारा लिखित ईशावास्योपनिषद् पर भाष्य संसारके समस्त भाष्योंमें

भाष्य रत्न है। जिस प्रकार समुद्र-मन्थनमें अनेक प्रकारके रत्न निकले ठीक उसी प्रकार पूज्यपाद आचार्य भगवान् ने ईशावास्योपनिषद्में से ईश्वर श्रीराम तत्वको समस्त संसारके पदार्थोंमें रत्नके रूपमें सिद्ध किये हैं। श्रीरामचरितमानसमें रामभक्तिको ही मणि बताये हैं। हमारे पूज्यपाद आचार्य चरणने हमारे रामानन्द सम्प्रदायके ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृतिके रत्नमणि हैं। जिन्होंने श्रीसम्प्रदायको श्रीसम्प्रदाय-मन्थनं, गीता भक्तिदर्शन एवं ईशावास्य-हरिभाष्य जैसे रत्नग्रन्थ दिये। मैं प्रभु श्रीसीतारामजीसे प्रार्थना करता हूँ कि पूज्यपाद आचार्य-चरणोंके द्वारा सम्प्रदाय एवं भारतीय संस्कृतिके इसी तरह का लाभ पूज्यपाद स्वामीजीसे मिला करे।

पूज्यपाद आचार्य चरणोंके बचनामृतों, ग्रन्थरत्नोंमें और प्रत्येक व्यवहारमें श्रीरामपरत्व का दर्शन होता है। श्रीआचार्य भगवान् की वाणीसे तो अमृत झरता है। आपके ग्रन्थोंमें इसलिए राम उपासना का रामपरत्व का दर्शन होता है क्योंकि श्रीचरण स्वतः अपने कर-कमलोंसे ही लिखते हैं। अन्य लोग दूसरे विद्वानोंसे अपने नामसे लिख-वाते हैं। वे अपने मनोभावोंके उस ग्रन्थमें कैसे व्यक्त करेंगे उस ग्रंथमें व्यक्त विचार तो अन्यके हैं। अतएव वे मात्र ग्रन्थ ही हैं। परन्तु रत्न तो वह है जिसमें लेखक के मनोभाव व्यक्त होते हैं। यही कारण है कि अन्योंके ग्रन्थोंमें सम्प्रदायके विपरीत बातें आ जाती हैं। पूज्यपाद आचार्य चरणोंके जीवनमें कूट-कूटकर श्रीरामानन्दित्व एवं श्रीरामो-पासना भरी है इसलिए आपके ग्रन्थोंमें तथा भाष्योंमें पन्ने-पन्नेमें श्रीरामपरत्व का तथा श्रीराम उपासना तथा श्रीरामानन्दीय सिद्धान्त का दर्शन होता है। इसलिए यह ईशावास्य उपनिषद् का भाष्य भी भाष्यमें रत्न है। ऐसा मेरा मानना है।

आपका बालक—
गंगादास के० (खाकी)
भगवद्धाम रामजी मन्दिर
विरार वेस्ट बम्बई

भारतीय संस्कृति एवं उपनिषद्

कर्मवीर स्वामी रामकुमारदासजी
कर्णावती, अहमदाबाद।
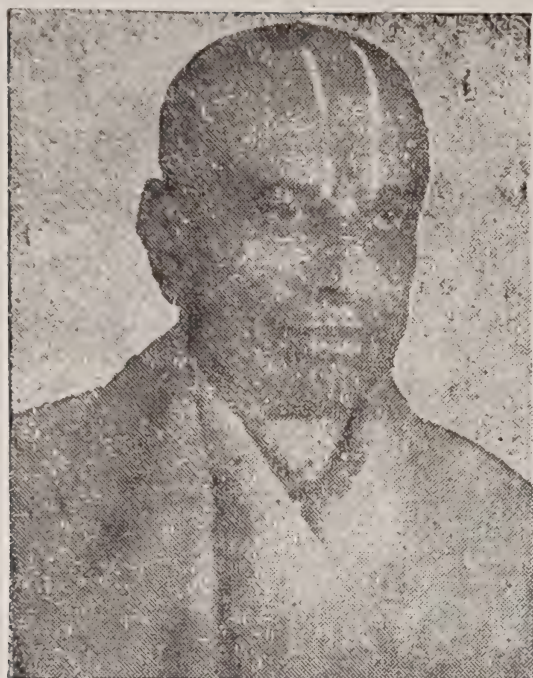
भारतीय संस्कृतिके विकास का मूल वेद है। हमारे सनातन ऋषियोंने जिस ज्ञानालोकसे संसारको आलोकित किया है, उसीके आधार पर इस देश का नाम भारतवर्ष है। भा—का अर्थ ज्योति या प्रभा है और उस तत्व का अन्वेषण ही जिसकी जीवन-चर्या रही है वह भारत है। वेद-प्रतिपाद्य आचरण, जीवन, रहन-सहन, बोध आदि ही हमारी भारतीय संस्कृति है। वह उपनिषदोंमें स्थिर है। शब्दस्तोत्र महानिधिमें लिखा है—**"उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्म-विद्या अनया इति उपनिषद्"** जिसके द्वारा ब्रह्म अथवा ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हो उसे उपनिषद् कहते हैं, अथवा जिसके द्वारा पुरुष ब्रह्मकी प्राप्ति करता है उसे उपनिषद् कहते हैं।

"उपनिषीदति प्राप्तो ब्रह्म यया"

षदलृ=अथवा षद् धातुके अर्थ उप तथा नि उपसर्ग का साहचर्य होनेसे बदल जाते हैं।

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहार संहार विहार परिहारवत्।।

उपसर्गके द्वारा धातुका अर्थ अन्यत्र ले जाया जाता है अर्थात् परिवर्तित हो जाया करता है। जैसे हार शब्दमें प्र उपसर्गसे प्रहार, आ से आहार, सम् से संहार, वि से विहार तथा परि से परिहार शब्द बन जाया करते हैं। उप उपसर्ग का अर्थ समीप भी होता है। उप के

साथ षद् अथवा सद् धातुका प्रयोग उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंपर प्रयोग किया गया है।

अथ हैनं प्रस्तोता उपससाद । [छान्दोग्य १।११।४]

इसके उपरान्त प्रस्तोता नामक ऋत्विक् उनके पास आये। उपनिषद् शब्दका अर्थ समीप आना अथवा बैठना होता है। गुरुके सान्निध्यमें बैठकर विद्या ग्रहण किया जाता है। अतः उपनिषद्का व्यावहारिक अर्थ गुरुके समीप बैठकर प्राप्तकी हुयी ब्रह्मविद्या हुआ। ब्रह्मविद्याके द्वारा साधक ब्रह्मका सान्निध्य प्राप्त करनेके योग्य होता है।

उपनिषत्तु नितरां समीपे उपवेष्टुं समर्था भवन्ति साधका अनया इत्युपनिषद्। उपनिषदोंमें ही उपनिषद् शब्दका प्रयोग शिक्षा, उपदेश, विद्या और ज्ञानके रूपमें सर्वत्र किया गया है।

यदेव विद्यया करोति श्रद्धया तदेव वीर्यवत्तस्य। [छा० १।१।१०]

अर्थात् जो कर्म विद्यासे, श्रद्धासे और उपनिषद्से प्राप्त तथा मार्ग निर्देशके अनुसार किया जाता है, वही पूर्ण वीर्यवान होता है और वही कार्य शुभदायक तथा फलदायक कहा जाता है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं,
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आचम्य तद्भाव गतेन चेतसा,
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

[मुण्डक उ० २।२।३]

हे प्रिय! उपनिषदोंमें वर्णित ब्रह्मविद्याके महान् अस्त्ररूपी धनुषको धारणकर अवश्य ही उपासना एवं भक्ति द्वारा आत्मस्वरूप वाणको चढ़ाओ तथा भक्तिसे परिपूर्ण मनसे उस धनुषको खींचकर उस अविनाशीरूपी लक्ष्यको ही वेध दो। इस प्रकार उपनिषद्से वेदोंका बहुत बड़ा सम्बन्ध है। ब्रह्मविद्या का रहस्य उपनिषदोंमें गूढ़ रूपसे वर्णन किया गया है। वेदों का प्रादुर्भाव उस ब्रह्मको चारों वेदोंने ही परिज्ञान किया है जो पूर्वकालके विद्वान ऋषि उस ब्रह्मविद्याको अच्छी तरह जानते हैं।

ब्राह्मी उपनिषद्के तप, दम, मन, एवं इन्द्रियका अनुबन्धन, श्रेष्ठ कर्म एवं सम्पूर्ण वेदाङ्गका आधार है, आश्रय है तथा सत्य उसका आयतन निवास स्थान है। ब्राह्मी उपनिषद् वेद वेदाङ्ग पर ही आधारित तथा सत्यमें ही प्रतिष्ठित है। उस ब्रह्मविद्या या सत्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए एवं उसपर आचरण करनेके लिए मन एवं इन्द्रियोंका अनुशासन श्रेष्ठ कर्मोंका सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है।

अतः यहाँ स्पष्ट हो गया कि उपनिषदोंके पूर्ण आधार वेद ही हैं और वेदोंमें वर्णित ब्रह्मज्ञानको ही सरलरूप उपनिषदोंने ही प्रदान किया है। जो लोग यह समझते हैं कि उपनिषदोंका ज्ञान कहीं अन्यत्रसे लिया गया है, वे अन्धानुकरण करते हैं, और कुछभी नहीं है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्या या ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान वेद भगवान्की ही कृपापर आश्रित है। यह ईशावास्य उपनिषद् साक्षात् वेदवाणी है। यह किसीके द्वारा नहीं रचा गया है। इस प्रकार उपनिषद् भारतीय संस्कृतिके आधारभूत ग्रन्थोंमें विद्यमान है। भारतीय संस्कृति का गौरव सदैव उसकी परम्परामें अपनी एक विशेषता लेकरही उपस्थित रहा है। समस्त ससारके लोग ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करनेके लिए शिक्षा हेतु इस आर्यावर्तकी पावनभूमि पर आनेमें अपना गौरव मानते रहे हैं।

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २।२०)

इस देशके गौरवको इस प्रकार मनु ने अपने शब्दोंमें व्यक्त किया है कि विद्वान् ब्राह्मणोंसे आकर लोगोंने शिक्षा ग्रहण किया है।

आज हम स्वयं अपने गौरवभूत वेद, उपनिषद् जैसे श्रेष्ठग्रंथों की उपेक्षा करनेमें अपने को गौरवशाली मानते हैं। आज विदेशी संस्कृतिके प्रति हम अधिक जागरूक हैं, यही हमारे पतनका प्रधान कारण है। आजका युवक वर्ग तथा किशोरवर्ग अपने देशकी गौरव-गाथासे प्रायः अपरिचितसे हो गये हैं।

गायन्ति देवा किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।
(विष्णु पुराण ३।२४)

जिस देशकी गौरवगाथाका गान निरन्तर देवता लोग किया करते हैं। जहाँ देवता भी मानवके रूपमें अवतरित होते हैं, ऐसी स्वर्ग एवं मोक्षका मार्ग प्रशस्त करने वाली भारतभूमिमें जन्म ग्रहण करने वाले धन्य हैं।

यह भारतभूमि पुण्यभूमि, तीर्थभूमि एवं कर्मभूमि है और अन्यान्य देश भोग भूमि हैं। यह निश्चित है कि कर्मोंके क्षय होनेपर मैं कहाँ जन्म ग्रहण करूँ, यह कहना कठिन है, परन्तु वह मानव जीवन धन्य है जो इस भारतभूमिमें जन्म ग्रहण किया है। स्वस्थ शरीर उन्नत ललाट, इन्द्रियों पर संयम, पुण्यसे प्रेरित सन्मार्गपर अनुगमन कर जीवन यापन करते हैं।

इस प्रकार विचित्र संस्कृतिसे परिपूर्ण हमारा यह भारतदेश परम यशस्वी, गौरवशाली स्वर्णिम देश है। यह ऋषियोंका देश, तपस्वियोंका देश है। फिरभी आज रोनेका मन होता है, किससे रोऊँ! हमारा रुदन भी आज अरण्य रोदन ही है क्योंकि अपने कुत्सित कर्मोंसे हमीने इसको मलिन करके इस छविको धूमिल कर दिया है। आह! अपने अज्ञानसे इस महिमा मण्डित देशकी और अपनी संस्कृति की दुर्दशा हम स्वयं करने पर उतारू हैं। आज यह विषय मनीषियोंके लिए चिन्त्य है। आज हम वेद पर, उपनिषद् पर, पुराणों एवं शास्त्रों पर जब कुछ कहना चाहते हैं तो सर्वप्रथम पहले विदेशी विद्वानों, अन्वेषकों की गवेषणा का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। यह हमारे देश-वासी विद्वानोंका दुर्भाग्य या अल्पज्ञता कही जाये या उनकी मूर्खता कही जाये। यदि विदेशियोंने कुछ लिख दिया है तो उसे हम पत्थर की लकीर मानते हैं। यदि कोई भारतीय विद्वान्ने कहा है तो उसको

काटने में हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति (विद्या, बुद्धि) को खपा डालते है। यही आज इस देश का दुर्भाग्य है।

यद्यपि उपनिषद् और वेदों पर बिदेशियों का मौलिक अध्ययन बहुत अल्प है, पर हम यह समझ बैठे है कि विदेशी विचारकों के उद्धरण देने से यह बात विशेष आकर्षक हो जायेगी पर ऐसी बात वास्तव में है नहीं। किन्तु उपनिषद्, वेदान्त आदि का जो चिन्तन हमारे भारतीय विद्वानों ने किया है, वह परम्परा और प्रतिभा उनके पास है ही नहीं। वास्तव में भारत का समृद्ध काल उपनिषद् काल है। उपनिषदों का दर्शन ब्रह्माण्ड के विषय में मानवीय विचारधारा का सर्वोत्कृष्ट विन्दु है जो वैदिक युग में प्राप्त किया जा चुका है। जो उसी समय से आज तक इससे श्रेष्ठ किसी ज्ञान को प्रकाश पूर्ण रूपेण विकसित नहीं हो सका है।

इस्लाम धर्मावलम्बियों में मुगल शाहजादा दाराशिकोह के अतिरिक्त मंसूर, सरमद, फैजी, बुल्लाहशाह आदि अनेक ऐसे विद्वान हुए हैं जिन्होंने उपनिषदों को अपने जीवन का पाथेय बनाकर मार्ग-दर्शन प्राप्त किया है। दाराशिकोह तो ऐसा विद्वान था,जो संस्कृतका अध्ययन करके उपनिषदों का अध्ययन किया और उसमें ईशोपनिषद् का फारसी में अनुवाद भी किया था, उसी से उसे शान्ति की प्राप्ति हुयी थी। इसी प्रकार अग्रेज दार्शनिकों ने भी उपनिषद् का प्रगाढ़ अध्ययन किया तथा उस पर अपना मन्तव्य और वक्तव्य दोनों दिया। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक सोपेन हावर ने लिखा है कि—

En The whole World There Is no Study---so Beneficial And so elevating as That of up Aneshads. et has been the solace of my ufe and et will be the solace of my death.

सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नही है—जो उपनिषदोंके समान उपयोगी तथा जीवन में विकास की ओर प्रेरित करने वाला हो। यह मेरे जीवन में शान्ति प्रदान करने वाली है और यह मृत्यु

के समयभी शान्ति देगी । अब यह विचार भी भारतीय सनातन परम्परा की ही कड़ी है । पर हमारे यहाँ पढ़ा विद्वान इस बात को अधिक तूल देगा और यदि यही बात भारतीय मनीषी या विद्वान द्वारा कही गयी है तो उसको यहाँ का विद्वान लेखक बिलकुल महत्व दें ही नहीं सकता है । धर्म की व्याख्या एवं आध्यात्मिक माध्यम यह आंगल विद्वानों की न तो मान्यता है और न उनका यह विषय है । यह तो उनकी बुद्धि का मात्र व्यायाम है । हमारे मनीषियों की परम्परा मान्यता में जीवन समाप्त हो गया है ।

आत्मा परमात्मा का चिन्तन और मनन, निदिध्यासन यही विषय लेकर उपनिषद् आदि की व्याख्या प्रस्तुत किया है । जगत् क्या है ? परमात्मा क्या है ? इसका प्रवर्तक कौन है ? शरीर का संचालन कैसे होता है ? यह जीव परमात्मा का अंश कैसे है ? आदि विषयों पर विचार करते हुए मृत्यु क्या है ? की विशद व्याख्या की गयी है ।

जैसा कि शास्त्रों में वर्णन किया गया है कि अग्नि, वायु, सूर्य आदि ३३ देवता अन्श रूपसे इस जीवात्मा के साथ शरीर में आकर इन्द्रियों और अवयवों में निवास करते हैं । इन सभी का अनुशासन करने वाला मात्र आत्मा ही कहा गया है । वैदिक वाङ्मय में जो भी परमात्मा परक शब्दों का प्रयोग किया गया है वे मर्यादित भाव के साथ-साथ आत्मा के भी वाचक रूपमें विद्यमान हैं । और जो जीवात्मा के वाचक शब्द आये हैं वे असीमित और विस्तार रूप में परमात्मा के भी वाचक हैं । इस प्रकार के शब्द दोनों के सर्वत्र दृष्टि-गोचर होते हैं क्योंकि दोनों के गुण धर्म बहुत अन्शों में समान हैं और दोनों का पिता पुत्र सम्बन्ध संसार एवं शास्त्र प्रसिद्ध भी है । परमात्मा सदा स्ववस है और जीव सदा परवश है ।

परबस जीव स्वबस भगवन्ता । जीव अनेक एक श्रीकन्ता ।। रा०मा०

परमात्मा सदा पूर्ण ज्ञानी शुद्ध बुद्ध एवं स्वयंभू है । जबकि आत्मा का ज्ञान सीमित है । वह अज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान से भी युक्त होता है और कर्मों का फल भोगने में परतन्त्र होता हैं। अस्तु अवस्थाके

बोधक जो शब्द जीवात्मा के लिए प्रयोग किये गये है, वे परमात्मा के लिए कभी प्रयोग नहीं होते । वेदोंमें परमात्मा के जिन-जिन गुणों का वर्णन किया गया है-उनका भजन, अनुष्ठान करके चिन्तन, ध्यान करके साधक भक्त अपने जीवन को कृतार्थ करता हुआ भगवत् सान्निध्य, कृपा एव परमगति अवश्य ही प्राप्त कर लेता है । यही कारण है कि विविध मन्त्रों में परमात्मा के गुणों का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है । ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रतिभा से जिस तत्व का दर्शन किया है उन-उन ऋषियों का परिचय विनियोग के रूपमें विद्यमान है जैसे भुसुण्डि के द्वारा लक्ष्य किया जाता है उसके बाद उसको चलाया जाता है । उसी प्रकार जिन तत्वों का विवेचन किया है उनका साक्षात् दर्शन उनको प्राप्त हुआ है । अतः "ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः" कहे गये हैं ।

ज्ञान और कर्म—ज्ञान कर्म की चर्चा भी उपनिषद्में विद्यमान है । ज्ञान तथा कर्म अन्योन्याश्रित है। दोनों की उपयोगिता है। मानव अपने ज्ञान के अनुसार कर्म करता है और उसका फल भी भोगता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटि शतैरपि ।। [गरुण पुराण]

किये गये शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है । वे कर्म सैकड़ों करोड़ों जन्मों में भी बिना भोग के क्षीण नहीं होते ।

मन्त्र द्रष्टा ऋषि—मन्त्र के द्रष्टा ऋषि वेद मन्त्रों के साथ जुड़े हैं । कुछ विद्वानों का मत हैं कि इन मन्त्रों का ऋषि दध्यङ् अथर्वा हैं । **ऋषि वाचं पञ्चाध्यायीदध्यङ्ङाथर्वणो ददर्श** । (यजु० सर्वानुक्रमणी ४।५) यजुर्वेद के अन्तिम पाँच अध्यायों के ऋषि दध्यङ् अथर्वा हैं । गोपथ ब्राह्मण में अथर्वा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकारकी गयी है—

तद्यदब्रवीदथार्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत् ।
[गोपथ १।४]

वह जो उसने कहा कि अब सामने इस को इन्हीं जलों में खोज, अतः अथर्वा कहा जाने लगा । अप्सु शब्द का प्रयोग सम्भवतः

इसीलिए किया गया है कि वह आप्लृ-व्याप्तौ धातुसे निष्पन्न होता है। जिस प्रकार भगवान् सर्वव्यापक हैं उसी प्रकार जलभी सर्वत्र किसी न किसी रूपमें विद्यमान है। वाष्पके रूपमें जलके कण सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। वायुमें भी उसकी विद्यमानता रहती है। आप शब्दब्रह्मका भी वाचक है तथा प्रकृति आपोमय कही जाती है। भगवान्को बाहर क्यों ढूढ़ते हो, अपने अन्दर ढूँढ़नेका प्रयास करो।

इस प्रकारके वचन कहने वाले ऋषिका नाम अथर्वा कहा गया है। अन्य विद्वान् कहते हैं कि आत्मविद्या या ब्रह्मविद्याके साथ सम्बन्ध है। थर्व का अर्थ गति है अतः अथर्वा गतिरहित अथवा निश्चल हुआ। योग साधनके बाद जो मनकी स्थिरता, एकाग्रता, अचञ्चलता सिद्ध होती है उसका दर्शक यह शब्द है। स्थिर बुद्धि, स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ यह इसका भाव है। ऐसे योगीका ब्रह्मविद्या का सम्बन्ध होना स्पष्ट है। अतः इस अध्यायका अथर्वा ऋषि नाम बता रहा है कि इस अध्यायमें ब्रह्मविचार और आत्मविचार हुआ है।

देवता :—जिस मन्त्रमें जिसका वर्णन होता है वही उसका देवता होता है। देवताका ठीक-ठीक परिज्ञान हो जानेपर वेद मन्त्रोंका अर्थ करना सरल हो जाता है। यजुर्वेद संहितामें इस अध्यायके सभी मन्त्रों का देवता आत्मा लिखा गया है। मात्र अनेजदेक मन्त्रका देवता ब्रह्मा लिखा गया है। इस अध्यायमें आये मन्त्रोंमें देव वाचक शब्द जो आये हैं वह निम्न हैं।

क्रमाङ्क	मन्त्र	देवता सूचक शब्द
१-	ईशावास्यम्०	ईश
२-	कुर्वन्नेवेह०	—
३-	असुर्या नाम०	—
४-	अनेजदेकम्०	एकं एनत्
५-	तदेजति०	तत्
६-	यस्तु सर्वाणि०	आत्मा
७-	यस्मिन्त्सर्वाणि०	सः कविः

८-	सपर्यगात्०	—
९-	अन्धंतमः०	पूषन् सत्य
१०-	हिरण्मयेन०	एक पूषन् यम
११-	पूषन्नेकर्षे०	ओ३म्
१२-	वायुरनिलम्०	अग्नि
१३-	अग्ने नय०	—

प्रभृति इस प्रकार देवता वाचक मुख्य शब्द ईश आत्मा कवि यम, सत्य पुरुष, ब्रह्म, ओम् तथा अग्नि हैं। यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है कि ये शब्द एक ही देवता अथवा ईश्वरके प्रकाशक हैं। एक ही परमात्माके वाचक शब्दका विद्वान् बहुत प्रकारसे लोग वर्णन करते है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम तथा मातरिश्वा कहते हैं।

ज्ञान तथा कर्म—और उपासनाके स्वरूपका वर्णन वेदों उपनिषदों दोनोंमें समान रूपसे विद्यमान है परन्तु इनका विनियोग सही रूपमें होना कठिन ही है। इन तीनोंमें से एक का भी यदि ठीक अनुसंधान हो जाय तो यह समस्त जीवन कृतार्थ हो जाय। यदि इसमें ज्ञानपूर्ण हो जाय तो कर्म और उपासना उसके उपाङ्ग बन जाते हैं। किसीका कर्म पूर्ण हो जाय तो ज्ञान और उपासना उसके उपाङ्ग बन जाते हैं और यदि उपासनापूर्ण हो जाय तो कर्म, ज्ञान उसके उपाङ्ग बन जाते हैं। इन तीनोंकी विशद व्याख्या वेदों एवं उपनिषदोंमें उपलब्ध है।

वैसे उपासनाका सम्बन्ध हृदयसे होता है। यह मानव जीवन मात्र कर्मसे अथवा ज्ञानसे सफल होनेपर भी अधूरा है। श्रद्धा और विश्वास एवं भक्तिका स्थान हृदय है। यदि हृदय शीतल नहीं हो पाया तो यह जीवन बोझ ही ढोता रह गया। इन तीनोंमें से एकभी पूर्ण हो जाय तो जीवनका पक्ष पुष्ट हो जाता है। अतः तीनोंके समुच्चय की परम आवश्यकता है।

उपासनाको जो लोग आज अन्धभक्तिके रूपमें मानते हैं वे तो दयाके पात्र हैं, क्योंकि उनका हृदय उस आनन्द व सुखकी अनुभूति नहीं कर पाया है। वह किसीको प्रेम नहीं दे पाया है। भगवत् भक्तिके सहारे दो बूँद आँसू नहीं बहा पाया है। किसीके क्षोभको अपने प्यारसे नहीं थपथपा पाया है। किसीके हृदयमें नहीं झाँक पाया है। वह बेचारा उपासनाके सुखका अनुभव कैसे कर पायेगा जिसका समग्र जीवन होटल एवं हास्पिटल बनकर रह गया है।

हमारी भारतीय संस्कृतिमें भक्ति और उपासनाकी प्रधानता सदा रही है। मानव अपने मंगलके लिए इनका आश्रय लेता है। ईश्वरके रूपमें अपने चित्तको स्थिर या केन्द्रित करनेका नामही उपासना है। चित्तमें दृढ़ता बलपूर्वक या हठात् कभी भी उत्पन्न नहीं होती। प्रेमके द्वारा ही मन स्थिर होता है। वही जो ईश्वर प्रेम है उसको शास्त्रोंमें भक्ति नामसे अभिहित किया गया है। उपासना और भक्तिमें परस्पर जन्य जनक सम्बन्ध विद्यमान है। उपासनामें अधिकाधिक प्रवृत्ति होती है। भक्ति और उपासनासे लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके लाभ हैं। ईश्वरमें मन लगाकर उनकी शक्तियोंका अंश अपने मनमें लाकर ग्रहण करनेसे लौकिक लाभ भी हो सकता है, परन्तु मुख्य लाभ तो तभी होता है जब संसारसे मन मोड़कर भगवान्की ओर इसे लगाया जाय, और यह मन विरक्त हो जाय तथा अपने जीवनके समस्त क्रिया-कलाप भगवान्को ही समर्पित कर दिया जाय। मोक्ष या भगवत्प्राप्ति की जाय अर्थात् उसका सान्निध्य प्राप्त हो जाय। भगवत् प्रेम यदि प्राप्त हो जाय तो मानवकी सांसारिक उन्नतिकी वासना अपने आप हट जाती है।

अतः शास्त्रोंमें भक्तिका विशेष महत्व दिया गया है। वैदिक वाङ्मय पर प्रायः आक्षेप किया जाता है कि वेद तो अनेकेश्वरवादी हैं। वेदोंमें विभिन्न देवताओंको ही ईश्वर माना गया है और उसमें प्रार्थना, स्तुति विशेष रूपसे प्राप्त होती है। एक परमात्मा या ज्ञान की उपासना तो वेदोंमें है ही नहीं। तदनुसार वेदोंमें अर्थात् भारतीय

संस्कृतिमें विविध प्रकारकी उपासना स्वीकारकी गयी है। कोई विष्णुका अर्चन, कोई रामजीका वन्दन, कोई कृष्ण, कोई शिव, गणेश या शक्ति को, तब एकेश्वरवाद कहाँ है।

परन्तु यह आक्षेप निस्सार है। वेदोंमें शतशः मन्त्र ऐसे हैं जो एकही ईश्वरका प्रतिपादन करते हैं।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्;
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति,
य इत्तद्विदस्त इमे समासते ॥

[ऋ० १।१६४।३९]

ऋचाके प्रतिपाद्य अक्षर परमाकाश रूप पर ब्रह्म, जहाँ सारे देवता निवास करते हैं को जो नहीं जानता, वह वेदकी ऋचासे भी कुछ नहीं कर सकता है अर्थात् उसका वेदाध्ययन करना व्यर्थही है और जो उसको जानता है वह अमृत अवस्था मोक्षको प्राप्तकर लेता है।

इसी प्रकार विभिन्न मन्त्रोंमें उसी ब्रह्मका भिन्न-२ देवताओंके नामसे वर्णन किया गया है। इस प्रकार शतशः वाक्यों द्वारा जगत्का मूल तत्वही एक परब्रह्मको माना गया है। अनेकेश्वरकी क्या बात है। वेदमें परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त किसीको नहीं माना जाता है। उपासना भेदसे भलेही वह विविध नामरूपको धारण किये हों, पर परब्रह्मको सभी मानते हैं।

भारतीय संस्कृति— धर्मके ऐक्यके न रहनेपर भी सिद्धान्तकी दृष्टिसे भारतीय कहलाने वाले सभी भारतीय आचार विचारोंका संग्रह किया जा सकता है। वह सिद्धान्त है आध्यात्मिकता की सर्वमान्यता। अध्यात्म—दृष्टिपर समस्त व्यवहारोंकी उपादेयता का निर्धारण करना इस पर सभी भारतीयोंका मतैक्य है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृतिका प्राण अध्यात्म एवम् आचरण है। अब प्रश्न उठता कि अध्यात्म क्या वस्तु है? उसका जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? वास्तवमें उसकी उपादेयता क्या है? और वह भारतीय संस्कृतिका

मूल कैसे हैं ? आज इस देश को उस संस्कृति की आवश्यकता है कि नही ? इन सभी बिचारों का मूल्याङ्कन करना अति आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में स्थिर यह पञ्चभूत से निर्मित शरीर एवं इसके अतिरिक्त एक आत्मा की सता मानी जाती है। यह आत्मा अजर अमर कहा गया है। शरीर तो बदलता रहता है। पर आत्मा सदैव एक रूपमें ही स्थिर रहता है। गीता भगवती अनुग्रह करती है—

न जायते म्रियते न कदाचित् नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

यह आत्मा जन्म-मरण रहित है। शरीर के मरने पर भी इस आत्मा का मरण कभी किसी कालमें नहीं होता है। यदि भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य पुनर्जन्मवाद है तो इसको मूल संस्कृति में आने वाले श्रीरामानन्द, श्रीरामानुज,शैव, बौद्ध,जैन,सिक्ख,आर्य समाज,ब्राह्म-समाज आदि जितने सम्प्रदाय हैं वे सभी इस पुनर्जन्मवाद को अवश्य स्वीकार करते हैं। अत: आचार-विचार संस्कार के ये दो पहलू हैं। उनमें विचारांश में भारतीयों का ऐक्य स्थापित है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा है। जिस प्रकार शरीर को चलाने के लिए भोजन, वस्त्र आदि की अपेक्षा है उसी प्रकार आत्मा के प्रति हमारे कुछ कर्तव्य बनतेहैं। अध्यात्म पर अवलम्बित आचार व्यवहार ही आचारांश में भारतीयों की एकता को प्रतिष्ठित करते हैं।

प्राचीनकाल में भी भारतीय मनीषियों में अध्यात्म की प्रधानता विद्यमान थी। आत्मा को उन्नत बनाने वाले आचरणों को ही धर्म के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है आज भी भित्ति वही है, आज का शिक्षित समाज भी धर्म के नाम पर चौंक जाता है। कुछ ऐसे भी सज्जन हैं जो धर्म के नाम पर चौंक जाते हैं। परन्तु खेद का विषय है कि वे धर्म के स्वरूप पर ध्यान नहीं देते। धर्म न तो कोई हौवा है न कोई चौंकाने वाली वस्तु है,और न ही अवनति के मार्गमें ले जाने वाली वस्तु है। धर्म उसी को कहते हैं जो आत्म परिष्कार और आत्मोन्नति की ओर प्रेरित करे। धर्म का लक्षण कणादने किया है कि-

"यतोऽभ्युदये निःश्रेयसः सिद्धि स धर्मः" जो क्रमशः उन्नति करते हुए चरम उन्नति पर हमें प्रतिष्ठित करदे उसकी धर्म संज्ञा है। उस प्रकार की उन्नति मात्र संसार की नही बल्कि अपने आत्मा की उन्नति के लिए कहा गया है।

मोक्ष भी धर्म के द्वारा ही सम्पन्न होता है। आधुनिक यन्त्र-युग में नवीन-नवीन मन्त्रों का अविष्कार हो रहा है। वह हमें उन्नति की ओर अवश्य ले जाता है, किन्तु यहाँ विचारणीय वस्तु यह है कि इन सभी मन्त्रों का निर्माता कौन है ? मनुष्य की कल्पना शक्ति ही इन यन्त्रों का निर्माण करती है, यह कल्पना शक्ति किस यन्त्र से तैय्यार हुयी है ? इसका उत्तर किसके पास है ? इसका ज्ञान भारतीय संस्कृति में मुख्य रूपमें स्वीकार किया गया है।

कल्पना शक्ति जो यन्त्रों की जन्मदात्री है उसका उद्भावक मन बुद्धि और सवके सब चैतन्यप्रद आत्मा का विचार आध्यात्मिक-वाद है, जिस पर यह सभी कुछ दृश्यमान है। भारतीय संस्कृति के नेता यही कहते हैं कि जो अपने आप का परिष्कार एवं सुधार न कर सका वह अन्य वस्तुओं का निर्माता होने पर भी महत्व शाली नहीं कहा जा सकता। अतः यहाँ की संस्कृति में आध्यात्मिकवाद की प्रधानता स्वाभाविक रूपसे दिखाई पड़ती है।

आज अध्यात्मवाद के अनुयायियों ने धर्म के आगे अर्थ और काम को गिरा दिया। वे केवल धर्म ही धर्म को पकड़े रहे और उससे अपनी ही हानि करते रहे परन्तु यह ध्यातव्य है कि हमारे यहाँ अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ स्वीकार किये गये हैं। पुरुषार्थ का तात्पर्य यहाँ पुरुषोंके द्वारा चाहने वाला या प्राप्त होने योग्य है। मनुष्य के चार लक्ष्य हैं। "पुरुषैरर्थ्यते" यह व्युत्पत्ति उक्त अर्थ को सिद्ध करती है कि उनमें अर्थ और काम का ही समान रूपसे समावेश है। और भारतमें अर्थ और कामकी ही उन्नति कभी हुयी ही नहीं। धर्म शास्त्र, अर्थ शास्त्र, काम शास्त्र, व्यवहार शास्त्र, कला शास्त्र, ये सभी भारत में उन्नत रहे हैं, प्राचीन इतिहास इसका साक्षी है।

हमारे यहाँ नीति, उपदेश, भाषण, प्रवचन, कथा त्रिवर्ग की उन्नतिकी प्रेरणा देते रहे हैं, जिससे मोक्षकी प्राप्ति सुकर हो जाय। त्रिवर्गका तात्पर्य धर्म,अर्थ,काम तीनोंसे है। प्रथमसे ही भारतीय वैभव सब लोगोंके लिए आकर्षणका केन्द्र रहा है। व्यवहार नम्रता आदि तो भारतसेही अन्य लोगोंने सीखा है। भारतमें सुख सामग्री सामग्री क्या थी ? यह यहाँके काव्योंके अध्ययनसे ज्ञात होता है, फिरभी धर्मको सर्वश्रेष्ठ स्थान यहाँ दिया गया है।

धर्मका आत्मासे सीधा सम्बन्ध है। उससे आत्मा बलवान् होता है। जब किसी व्यवहारमें धर्मके साथ अर्थ, काम का संघर्ष उपस्थित होता है और ललकारा जाता है कि धर्म अथवा कामको अपना लो, तो सदैव हम धर्मको ही अपनाते हैं। हमारे शास्त्रभी इसीको स्वीकारते हैं। "परित्यजेदर्थकामौ च स्यातां धर्मवर्जितौ।"

धर्मसे विरुद्ध अर्थका त्यागकर देना चाहिये। इस प्रकार भारतीय संस्कृतिका स्वरूप भी अत्यन्त दृढ़ एवं पुष्ट रहा है। उसका कारण भारतीय उपनिषदों का स्वाध्याय ही कहा जायगा। इस ईशोपनिषद् पर अत्यन्त मनोरम सरल एवं प्राञ्जल भाषामें हिन्दीभाष्य ज०गु०रा० स्वामी हर्याचार्यजी महाराजने करके सम्प्रदायका बहुत बड़ा उपकार किया है। आज इस देश एवं रामानन्द सम्प्रदायको उपनिषद् बोधकर अपने जीवनको समृद्ध बनाना चाहिये, जिससे खोई हुयी हमारी संस्कृति पुनः प्रतिष्ठित हो सके।

प्रथम मन्त्रमें त्याग भावसे उपभोग करो यह शिक्षा अनाशक्ति-योगका मूल है परन्तु कर्मकी प्रेरणाभी विद्यमान है दूसरे मन्त्रमें कर्म, योगकी शिक्षा दी गयी है। दोनोंमें मानव धर्मकी शिक्षा विद्यमान है। जिससे मानव जातिका मंगल हो।

श्रीसीतारामाभ्यां नमः ।　　　　श्रीपवनात्मजाय नमः ।

श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।

रामसकलदासेन प्रणीतं—श्रीहर्याचार्यलोकमङ्गलाष्टकम् ।

॥ १ ॥

यस्यामोघप्रसादेन हृदयस्थं तमो गतम् ।
रामस्य करुणादृष्टिरभवत् त्वरिता शुभा ॥ १ ॥

जगद्गुरु श्रीहर्याचार्यजीने एक पत्रमें मुझे आशीर्वाद दिया था कि आपके ऊपर श्रीसीतारामजी की कृपाकी वर्षा होगी, यह आशीर्वाद "श्रीआचार्य परपरा लिखनेके उपलक्ष्यमें उन्होंने दिया था। उस अमोघ आशीर्वादसे श्रीरामजीकी करुणामयी दृष्टि शीघ्र ही हो गयी।

॥ २ ॥

मन्थनं रचितं येन सर्वमङ्गलकारकम् ।
शान्तं दान्तं दयावन्तं हर्याचार्यं नमाम्यहम् ॥

जिन्होंने सम्प्रदायके सिवा सभी लोगोंके मंगलके लिए "श्रीसम्प्रदायमन्थन" नामक अतिसुन्दर ग्रन्थ लिखा है। ऐसे शान्तस्वरूप, इंद्रियों और अन्तःकरणको संयमित रखने वाले, प्राणिमात्र पर दया रखने वाले उन जगद्गुरु श्रीहर्याचार्यजीके चरणकमलोंमें सादर नमन करता हूँ।

॥ ३ ॥

"श्रीसम्प्रदायसमयः" वैष्णवबोधदायकः ।
श्रीमद्भगवदाचार्यरचितस्तं नमाम्यहम् ॥

"श्रीसम्प्रदाय समयः" यह ग्रन्थ अति उत्तम है। वैष्णवोंके लिए आध्यात्मिक निधि है और भगवत्प्राप्ति रूप, भक्ति प्रदान करने वाला है। इसमें १५७ श्लोक हैं इसके रचयिता जगद्गुरु रामानंदाचार्य स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी हैं, अतः उनके चरणकमलोंमें मेरा सादर नमस्कार है।

॥ ४ ॥

तस्य टीका कृता येन धीमता ब्रह्मवादिना ।
सम्प्रदायरहस्यज्ञं हर्याचार्यं नमाम्यहम् ॥

उस "श्रीसम्प्रदाय समयः" की हिन्दी टीका जिन्होंने लिखी है, जो परम बुद्धिमान् श्रीसम्प्रदायके मार्मिक रहस्योंको जानने वाले हैं,

परब्रह्म श्रीरामजीके प्रचारक और सिद्धान्त रूपसे समर्थक हैं, उन जगद्-गुरु श्रीहर्याचार्यजीके मङ्गलमय चरण कमलोंमें प्रणाम करता हूँ।

॥ ५ ॥

ईशावाश्यस्य भाष्यञ्च सुन्दरं सुखदं शुभम्।
विशिष्टाद्वैत—सिद्धान्त--सम्मतं सन्मतं तथा॥

जिन्होंने "ईशावाश्य" उपनिषद्का सरल, सुन्दर भाष्य लिखा है, यह भाष्य अति सुन्दर, सुखद और मङ्गलमय है। विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके अनुरूप तथा विद्वानोंके मतके अनुरूप है।

॥ ६ ॥

व्यासशैली सुबोध्या च भाषा सुसरला तथा।
भावश्च मानसस्पर्शी सुबोध्यो हृदयङ्गमः॥

इस भाष्यकी भाषा सरल सुबोध्य है, व्यास शैलीके द्वारा भावों और प्रतिपाद्य विषयको स्पष्ट किया गया है। भाव हृदयस्पर्शी सुबोध्य और मनमें बैठ जाने वाले हैं।

॥ ७ ॥

हर्षशोकभयान्मुक्तं निर्वैरं सङ्गवर्जितम्।
अनन्यं राघवे नित्यं हर्याचार्यं नमाम्यहम्॥

जो हर्ष, शोक और भयसे सर्वथा मुक्त हैं, वैर और सांसारिक आसक्तिसे रहित हैं। परमपिता परमेश्वर श्रीरामजीमें नित्य अनन्य-निष्ठा रखने वाले उन जगद्गुरु श्रीहर्याचार्यजीके मङ्गलमय चरण-कमलोंमें सद्भावसे प्रणाम करता हूँ।

॥ ८ ॥

श्रुतिस्मृति—पुराणज्ञं वेदान्तपथ—गामिनम्।
ममता रहितं नित्यं हर्याचार्यं नमाम्यहम्॥

श्रुति, स्मृति और पुराणादि सद्ग्रन्थोंके ज्ञाता, वेदान्त वाक्योंके विचार और मननमें लीन रहने वाले सांसारिक वस्तु, व्यक्ति और घटनाओंमें जो ममत्व रहित हैं उन जगद्गुरु श्रीहर्याचार्यजीके मंगल-मय चरण कमलोंमें नमन करता हूँ।

ईशावास्योपनिषद् एक चिन्तन

मानव, परमेश्वरप्रदत्त पूर्वापर विचार क्षमता से युक्त है। सृष्टि के आदिकाल से ही उसने अपने चारों ओर जो कुछ बनते बिगड़ते देखा उस पर अनेकों प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास किया। प्रश्न थे यह सब क्या है ? क्यों हैं ? कैसे बना ? किसने बनाया ? इस नियमबद्ध प्रकृति का संचालक स्वामी कौन है ? उपरोक्त प्रश्नों पर ऊहापोह रूप दर्शन शास्त्र बना जो विभिन्न आचार्यो द्वारा अनेक स्वरूप में उपलब्ध है।

परमेश्वर निःश्वासभूत अपौरुषेय वेदज्ञान हमारा आधार है। वेद विहीन जीवन की कल्पना ही अशुभ है। वेदों का मन्त्र भाग संहिता फिर ब्राह्मण पश्चात् आरण्यक यही क्रम है। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों में जीवन शैली कर्मकाण्ड का विस्तार है। आरण्यकों से ही आध्यात्मिक प्रश्नों का उद्भव हुआ। प्रश्नों के विचार मन्थनसे हमें उपनिषत् सम्पत्ति मिली है। अरण्यवासी तपोनिष्ठ महात्माओंके चिन्तन का परिणाम शताधिक्य उपनिषद् आज हमारे पास हैं।

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—उप,नि ये दो उपसर्ग हैं। षद् धातु में क्विप् प्रत्यय लगने पर उपनिषद् शब्द सिद्ध हुआ। षद् धातु का व्याकरण सम्मत अर्थ विशरण, गति और अवसादन होता है अर्थात् जो सर्वानर्थकारी संसार को मिटाये, अविद्यान्धकार को दूर करे तथा परमेश्वर परमात्मा ब्रह्म की प्राप्ति कराये उसे उपनिषद् कहते हैं। यही ब्रह्म विद्या या वेदान्त कहा जाता है।

उपनिषद् शताधिक प्राप्त हैं। वेदों की शाखाओं के सम्बन्ध से उपनिषद् भी विभिन्न हैं। इन शताधिक उपनिषदों में ईश, केन, कठ,प्रश्न,मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दस को सभी आचार्यों ने प्रतिष्ठा दी है। इसके अतिरिक्त एक उपनिषत् श्वेताश्वतर सगुण साकार वादी महात्माओं ने अपनाया है जो मधुर संगीतमय विचार गाम्भीर्य से युक्त है, जिसका सगुणोपासना में अधिक उपयोग है।

प्रस्तुत प्रसंग ईशावास्योपनिषद् पर कुछ विचार करने को है। उसकी चर्चा विशेष रूपसे की जायगी, अन्यथा उपनिषदोंमें कोई श्रेष्ठ या कनिष्ठ नहीं है। सभी मिलकर ही ब्रह्म विचार पूर्ण होता है। अपने-अपने ढंगसे सभी में तात्विक विवेचन रहता है। विद्वान आचार्यों ने अपने मत की स्थापना के लिए इनका प्रयोग अपने ढंगसे किया है। सभी मत श्रेष्ठ हैं, स्वीकार्य हैं परन्तु जहाँ श्रुतियों का मनमाना अर्थ देकर तोड़ मरोड़ कर अपनी ही बात मनवाने की की चेष्टा की है वहीं फिर से विचार करने वाले उनका दूसरा अर्थ बैठाकर अपना मत स्थापित करते हैं—जो विवाद का विषय होने पर भी विचार को प्रोत्साहन देता है।

प्रस्तुत ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है अंतिम है-यह उपनिषद् मन्त्र संहितामें पठित है-पहले के उनतालीस अध्याय कर्मकाण्ड परक हैं परन्तु चालीसवें में विशुद्ध अध्यात्म चिन्तन या भगवत्तत्व की चर्चा है। यही कारण है कि इस उपनिषद् की प्रथम गणना है। इसका नाम भी प्रथम मन्त्र के ईशावास्य शब्द पर आधारित है। इसमें १८ मन्त्र हैं। बीच के छः मन्त्रों को छोड़कर शेष सभी उपासना परक है। इसका प्रारम्भ सर्वमे ईश्वरीय सत्ता से है और अन्त परमेश्वर प्रभुसे प्रार्थना के स्वरूपमें। अतएव यह उपनिषद् भक्ति प्रधान है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

उस चराचर विश्व में जो कुछ भी जहाँ भी है उन्हीं सर्वेश का आवास्य है स्थान है, उन्हीं से व्याप्त है। उनके अतिरिक्त कहीं कभी कुछ भी नहीं। गोस्वामी तुलसीदास के मानस में एक उल्लेख है-**देशकाल दिशि विदिसहुँ मांहीं। कहहु सो कहां जहां प्रभु नाँहीं ॥ हरि व्यापक सर्वत्र समाना**। अतः सदा सर्वदा उनकी उपस्थिति का अनुभव या स्मरण करते रहना चाहिए। जीवन में क्या हो? कैसा हो? कितना हो? इन प्रश्नों का उत्तर '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**' में है—

अब जहाँ जो भी उपयोगी उपभोग पदार्थ मिले उन्हें उन्हीं प्रभुको निवेदन करो। वे स्वीकार करलें तब अवशिष्ट पदार्थोंको प्रसाद रूपमें भोगो। **तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।।** एक महात्माका कहना है—**आदौ समर्पितं प्रभुणा भुक्तम् अवशिष्ट प्रसाद-रूपेण तेन ईश्वरेण दत्तेन त्यक्तेन पदार्थेन भुञ्जीथाः**—इस प्रकार जीवनमें भोग ईश्वरीय प्रसाद बन जायगा। भोग पदार्थ अथवा ईश्वरीय प्रसादमें कभी अतृप्ति या कमी का प्रश्न नहीं होना चाहिये। "**मा गृधः**" अधिक या अन्य का लालच मत करो। याद रहे यह सब सामग्री (धनम्) उन्हींकी है। उन्होंने प्रसाद रूपमें हमें दी है। उनके दिये बिना कुछ नहीं मिलता। इसको योंभी कह सकते हैं कि दूसरोंके सामने प्राप्त सुख सामग्रीको देखकर ललचाओ मत। तुम्हें तुम्हारा भाग मिला है। दूसरोंका उनका अपना इन भोग पदार्थोंसे किसी की तृप्ति या कल्याण नहीं होता और यह पदार्थ कभी किसीके हुए भी तो नहीं। **कस्यस्विद् धनम्** ?

द्वितीय मन्त्रमें **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**······कर्मका स्पष्ट आदेश है अपनी सम्पूर्ण आयु सौ वर्षों तक कर्म करते हुए जियो। शरीर स्वस्थ न हो, मानसिक स्वस्थता न हो तो कोई कर्म ठीकसे हो ही नहीं सकता। अतः शरीरको आप धर्मसाधन मानकर स्वस्थ रहकर शतायु बनें और आलसी न बनें। भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि कोई एक क्षणभी कर्म किये विना नहीं रह सकता, कायिक मान-सिक कुछ न कुछ कर्म करता ही है तो उसे सावधान होकर निष्काम भावसे भगवदर्पित बुद्धि द्वारा लोकोपयोगी कार्य करते रहना चाहिये। ऐसा करने पर कोई भी कर्म बाधक नहीं होगा अर्थात् कर्मसे लिप्त नहीं होगा जीवन कल्याणमय बन जायगा, इसके सिवाय इस कर्म-बन्धनसे छूटने का कोई उपाय नहीं है।

तीसरे मन्त्रमें दुर्लभ मानव शरीर पाकर भी अगर कोई व्यक्ति ईश्वरको भूलकर विषय प्रपञ्चमें फँस जायेगा तो उसे अज्ञानान्धकारसे ग्रस्त और आत्मघाती बनाया गया है, अन्तमें शरीरान्त होनेपर उसे

घोर नरकोंकी प्राप्ति होगी। इस मन्त्रमें विषय प्रपञ्चसे हटकर परमेश्वर उपासना करनेका स्पष्ट संकेत जान पड़ता है।

चौथे पाँचवें मन्त्रमें उस परमात्माको जानना आवश्यक बताया हैं। परम प्रभुके परस्पर विरोधी गुणोंका वर्णन किया है। वे स्थिर हैं और सर्वत्र आते जाते हैं। अप्रकट हैं परन्तु कभी-कभी कृपा करके दर्शनभी दे देते हैं। निष्क्रिय भी हैं और भक्तोंके लिए रसमयी लीलायें भी करते हैं, अर्थात् सर्वत्र व्यापक, सर्वान्तिर्यामी, सर्वसमर्थ हैं. दोनों विरुद्ध धर्मोंको पहचाननेसे विश्वास बढ़ता है और विश्वास ही शुद्ध भक्तिका मूल स्वरूप है।

छठवें, सातवें, आठवें मन्त्रोंमें कहा है कि जब परमेश्वर प्रभु सर्वत्र समभावसे विद्यमान हैं तो कोई किसीसे घृणा, द्वेष या शिकायत कैसे करेगा—**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सब करहिं विरोध।** रामचरणानुरागी काम, क्रोधादिसे दूर व्यक्ति किसीसे घृणा या विरोध कर ही नहीं सकता। इसके विपरीत **"सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम** ··· ··· ···॥ नम्र भावसे सेवा ही करेगा। रामचरित-मानस गोस्वामी तुलसीदासजीका अमर उपनिषद् ही है।

अगले छः मन्त्रोंमें विद्या-अविद्या, सम्भव-असम्भव, सम्भूति-असम्भूति जैसे शब्दोंका प्रयोग है। आचार्यों और भाष्यकार विद्वानोंने उनके विभिन्न अर्थ अपने भाष्योंमें किये हैं।

एक आचार्यका मत दूसरेसे न मिले तो भी इतना तो स्पष्ट ही है कि सभी हित साधनमें एकमत हैं। वे विद्या-अविद्या, निर्गुण-सगुण, प्रवृत्ति-निवृत्ति, साकार-निराकार दोनोंही स्वरूपोंका उपयोग करके आत्मकल्याण को घोषणा करते हैं। वे कहते हैं कि विद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है और अविद्याको जान लेनेपर मृत्युको जीता जा सकता है. मार्ग चाहे सकारात्मक स्वीकारका हो या नकारात्मक विरोधका, परिणाम एकही है। "**उभय हरहिं भव सम्भव खेदा**"। यों भी समाधान हो सकता है कि "**हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन**" दोनों विधियोंका समुचित प्रयोग करके जीवन सफल बनाया जा सकता है।

यों भी सर्वान्तर्यामी व्यापक होनेपर भी प्रभु कभी-कभी नेत्रोंके विषय बन ही जाते हैं। "**नयन विषय मोकँह भयउ**" साक्षी मानस है। योगी जनक की घोषणा है। केवल निवृत्ति अथवा केवल प्रवृत्तिके प्रयोगसे जीवन अपूर्ण ही रहेगा। सम्पूर्ण तो दोनों पक्षोंके समुचित प्रयोगसे ही सम्भव है।

पन्द्रहवें मन्त्रमें सत्यका मुख स्वर्णपात्रसे ढँका है और सत्य-दर्शनके लिए प्रभुसे ही प्रार्थनाकी गई है। इस संसारकी भोग-सामग्री ही वह सोने का ढक्कन या आवरण है। इस चाकचिक्य या बाह्य लुभावने स्वरूपसे बचनेकी शक्ति हममें नहीं है, इसीलिए हे प्रभु आप अपने शुद्ध सत्य स्वरूपको स्वयं ही निरावरण करके दिखा दीजिये। गोस्वामी तुलसीदासजी विनय पत्रिकामें कहते हैं कि यह जीव मोह-रज्जुसे बँधा है परन्तु बन्धन उन्हींका दिया हुआ है और छुड़ाते भी वही हैं—"**जेहि बाँध्यो सोइ छोरे**"।

अगले मन्त्रमें पूषा देवता सूर्य या परमात्मासे फिर वही प्रार्थना की गई है कि हे देव! आप अपनी रश्मियोंको किसी प्रकार समेट-कर, एकत्र करके या हटाकर हमारी दृष्टि शुद्ध होने दें। आपके रश्मि-जालको सहन करना हमारे वशकी बात नहीं है। आपकी कृपाके विना हमारे पुरुषार्थका कोई अर्थ नहीं। एक महात्माका कहना है कि सूर्यदेव की किरणोंसे ही शुक्तिमें रजत और मरुभूमिमें जलका भ्रम होता है, इसी तरह परमात्म सत्ताके विना न भ्रम ही है न उसका निरास। अतएव उन्हींसे प्रार्थनाकी जा रही है कि आप अपने रश्मिजाल को हमारे लिए अनुकूल बना दें। आप अपने कल्याणतम स्वरूपका दर्शन स्वयं करादें। आपकी सहायताके विना आपके स्वरूपका दर्शन सम्भव नहीं। मानसमें गोस्वामीजीका निर्णय है कि "**रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाय राम प्रभुताई**"॥ चक्षु इन्द्रिय कितनी ही सतेज हो, सूर्य प्रकाशके बिना देखना असम्भव है।

अगले मन्त्रमें जीवनके परिणाम "**भस्मान्तं शरीरम्**" का उल्लेख है—मेरे समग्र जीवनका अन्त मुट्ठीभर राखके सिवाय और कुछ नहीं,

मैं हमेशा ही आपको पुकारता रहा हूँ, अब अन्तिम समयमें आप मेरी सुध लें। हे भगवन् ! आप मेरा और मेरे कर्मों का स्मरण कर लें। आपकी कृपासे ही आपको प्राप्त कर सकूंगा ?

अन्तिम मन्त्रमें परम कृपालु प्रभु को अपने जीवन रथ का सारथि बनाने की प्रार्थना है। हे देव ! आप हमें सुपथ पर चलायें। आप मेरे अन्तर बाहर को भली प्रकार जानते हैं। अगर कहीं आपके निर्देश की अवहेलना हुई हो, पाप कर्म प्रतिबन्धक हों, मेरा पतन विनाश निश्चित हो तो भी हे दीनवत्सल ! मैं आपका शरणागत हूँ। आपने भी वादा किया है कि जो एकबार मेरे सामने झुक जाता है उसे मैं अभय कर देता हूँ–**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्व-भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥** मैं बार-बार आपके श्रीचरणों में प्रणत हूँ और आपको पुकार रहा हूँ।

इस प्रकार इस छोटेसे उपनिषदमें **आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।** भक्त और भगवान के सम्बन्धों का वर्णन स्पष्ट रूपसे हुआ है। प्रस्थानत्रयी के किसी भी अंश पर लेखनी उठाना विद्वान् आचार्यों का काम है, मेरे जैसे अल्प बुद्धि के लिये अनधिकार चेष्टा ही है। आपकी उदारता के आधार पर कुछ शब्दों का आलेखन हुआ है—सुज्ञ पाठक क्षमा करेंगे। इस लघु लेखमें भाषा और भावों की भूलें अवश्य ही होंगी।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः ॥

अपने अहमदाबाद निवास के समय **श्रीसम्प्रदाय मन्थन** ग्रन्थ पढ़ने को मिला था। पढ़कर आनन्द हुआ, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री हर्याचार्यजी महाराज ने वैष्णवोत्कर्ष के लिए महान् प्रयत्न किया है। अपने पूर्वजों का स्मरण करने से गौरव बढ़ता है। सम्प्रदाय को फलने-फूलने में सहायता होती है। इसके बाद **गीता भक्ति दर्शन** नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। भगवद्गीता के बारहवें अध्याय पर जगद्गुरु श्रीहर्याचार्यजी द्वारा लोक सुलभ हिन्दी भाषामें भाष्य पढ़ने को मिला।

आपने बड़े कौशल से भक्तियोग जैसे गम्भीर विषय को लोक भोग्य बना दिया है। गोस्वामी तुलसीदासजी के मानस और विनयपत्रिका के योगसे सोनेमें सुगंध पैदा हो गई है। भक्तिदर्शन एक अनन्त सागर है। गर्ग, शाण्डिल्य और नारद जैसे आचार्यों ने उसी सागर का मंथन कर हमारे लिये अमृत नवनीत सूत्ररूपसे उपस्थित किया। अब आप-श्री जैसे विद्वानों ने उनका भाष्य करके बड़ा लोकोपयोगी कार्य किया है। आशा है भविष्यमें भी आप अनेक ऐसेही महान कार्य करते रहेंगे।

—सदैव आपका अपना ही
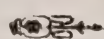
श्रीराम शर्मा-भिण्ड-म०प्र०

"सनातनधर्म में प्रस्थानत्रयी का स्थान"

प्रस्थानत्रयी भारतीय ऋतम्भरा प्रज्ञा सम्पन्न आप्त ऋषियों के चिन्तन और स्वाध्याय का पवित्र परिणाम है। जिन ऋषियों ने जिन मन्त्रों के जिस अर्थ को जिस रूपमें संघटित होते देखा, वही वेदोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता आदि के नाम से इस संसार में प्रतिष्ठित हैं। यह अध्यात्मप्राण आर्यावर्त भारत देश सदासे ही एक विशिष्ट तत्व की उपलब्धिमें निरत रहा है। अतः यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस देश का प्रत्येक कण और प्रत्येकक्षण इस प्रस्थानत्रय का दर्शन करता रहा है। इस देशके ऋषियों, मुनियों, सन्तों, योगियों, भोगियों, तपस्वियों और अज्ञानियों तक की मानसिकता ही प्रस्थानत्रयीमयी है।

यही कारण है कि यहाँ आस्तिक दार्शनिक व्याख्याताओं के अतिरिक्त भी चार्वाक, जैन, बौद्धादिकों के मत भी दृश्य हैं।

वस्तुतः प्रस्थानत्रयी पर सर्वप्रथम शांकरभाष्य का प्रचार-प्रसार हुआ, उसे क्रमशः स्वामी मध्वाचार्य और स्वामी रामानन्दाचार्य जी परिष्कृत करके भगवान् के सगुण साकार रूपकी मंगलमयी झाँकी को प्रतिष्ठित करके नीरस जीवन को सरस बनाये। अकारण करुणा-वरुणालय श्रीराम, कृष्णकी कृपारूपा भक्ति देवी सभी जीवों को अपने गले लगा लेती है, इसकी प्रतिष्ठापना हुई। अन्य आचार्यों ने किसी

ने एक प्रस्थान पर तो किसी ने दो प्रस्थानों पर अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये।

प्रस्थानत्रय—दार्शनिक आचार्योंने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता को प्रस्थानत्रय की मान्यता प्रदान की है। सामान्य अर्थ में प्रस्थान का अर्थ है-यात्रा, परन्तु यहाँ प्रस्थान शब्द उत्कृष्ट स्थान का वाचक है। प्रकृष्टं स्थानम्-प्रस्थानम्। परमात्मज्ञान के स्थान को प्रस्थान कहते हैं। **प्रस्थानम्** पदमें एक वचन के प्रयोग से अर्थ होता है कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीगीता का ज्ञान भिन्न-भिन्न नहीं है, अपितु **"त्रयो अवयवा यस्य"** अर्थात् तीनों अवयव मिलाकर एक ज्ञान समुदाय का रूप धारण करते हैं। अथवा **त्रयाणां प्रस्थानानां समाहारः**, इति **प्रस्थानत्रयम्** यहाँ समाहार द्वन्द्व समास है। इन तीनों प्रस्थानों के कथन की शैली में भले ही भिन्नता हो, परन्तु तात्पर्य एक ही है। उपनिषद् तो श्रुति प्रस्थान है ही। उपनिषद् के ही व्याख्यान महर्षि वादरायण कृत ब्रह्मसूत्र न्याय-प्रस्थान और गीता को स्मृति-प्रस्थान कहा जाता है। संक्षेपतः इसका विवेचन इस प्रकार है—

उपनिषद्—उप-समीपे निषीदति इति उपनिषद्-अर्थात् अज्ञान विनाशपूर्वक जो ब्रह्मज्ञानरूपा भक्ति का साधन हो अथवा जिस ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति हो वह उपनिषत्तत्व है। इस उपनिषद्को वेदान्त कहा जाताहै। वेदान्त का अर्थ है-'वेदानां अन्तः शिरोभाग इति वेदान्तः' वेद अनादि, अनन्त और अपौरुषेय हैं। यदि वेदान्त को वेद का अन्तिम भाग अथवा अध्याय कहा जायेगा, तो इससे इनकी अपरिमित महिमा की हानि हो जायेगी। अतः निष्प्रपञ्च रूपसे वेदतत्त्व ही वेदान्त है। वेदों के मुख्यतः ३ काण्ड हैं-१-कर्मकाण्ड, २-ज्ञानकाण्ड, ३-उपासना काण्ड। इसके तीन स्वरूप हैं— १-संहिता भाग, २-ब्राह्मण भाग, ३-आरण्यक भाग। प्रस्थानत्रयमें चारों वेदों के मुख्यतत्त्व दश उपनिषद् इस प्रकार हैं—

१-शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा का अन्तिम अर्थात् चालीसवाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् है।

२-तलवकार उपनिषद् का अपरपर्याय केनोपनिषद् है, यह तलवकार ब्राह्मणान्त पठित है।

३-कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा में कठोपनिषद् का पाठ है।

४-अथर्व वेद की शौनक शाखा का मुण्डक उपनिषद् है।

५-माण्डूक्य उपनिषद् ऋग्वेदीय और अथर्ववेदीय दोनों है।

६ अथर्व वेद की पैप्पलाद शाखा का प्रश्नोपनिषत् है।

७,८-तैत्तिरीय ब्राह्मणका कुछ प्रपाठक तैत्तिरीयोपनिषत् तथा ऐतरेयोपनिषद् है।

९-शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग बृहदारण्यकोपनिषत् है।

१०-सामवेदके ताण्ड्य ब्राह्मणान्तमें पठित कौथुमी शाखा छान्दोग्योपनिषत् का पाठ है।

इन उपनिषदों में भेद प्रतिपादक तथा अभेद प्रतिपादक दोनों श्रुतियों के कथनसे ब्रह्म, जीव और जगत् की कारणावस्था और कार्यावस्था इन दोनों का बोध हो जाता है।

पुरुष अपनी कर्मठता से जो प्राप्त करता है, वह उसका पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, यही पुरुषार्थ चतुष्टय है। प्रायः सम्पूर्ण उपनिषदों में धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के पश्चात् मोक्ष-पुरुषार्थ का उपदेश प्राप्त होता है। उपनिषद् में स्पष्ट रूपसे किसी क्षेत्र विशेष, देश विशेष और वर्णजाति विशेष का आग्रह, दुराग्रह नहीं प्राप्त होता है। यह तो मानव धर्म की व्यावहारिक व्यवस्था है, जो कि पात्र, अपात्र तथा कुपात्र का नियमन करता है। सभी ज्ञान सबके लिये लाभकारी नहीं हो सकते। इसलिए सबके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार प्राणिमात्र के सर्वतोमुखी विकास की मंगल कामना हमारे वैदिक साहित्य में प्राप्त है। भारतीय संस्कृति से अपरिचित व्यक्ति इस रहस्य को कथमपि नहीं समझ सकता। भारत का वह समृद्धकाल था, जब उपनिषद्की शिक्षा का विधिवत् प्रचार-प्रसार था। यह खेद का विषय है कि लोग अपनी अनैतिकता, अकर्मण्यता और अव्यवहारिकता का भार इन श्रुतियों पर थोप दिया करते हैं। संक्षेप में

प्रस्थानत्रय वेदान्त का व्यावहारिक तात्पर्य कर्मबोध और पारमार्थिक तात्पर्य आत्म-परमात्म बोध है ।

यह कथमपि नहीं कहा जा सकता कि भारतीय दर्शन,वेदान्त आदि का लक्ष्य मात्र ब्रह्म प्राप्ति है । यदि ऐसा मान लिया जायेगा तो ऐसे अनर्गल प्रलाप से अकर्मण्यों की अवली खड़ी हो जायेगी, जो इस कर्म-प्रधान क्षेत्रका दुर्भाग्य ही कहा जायेगा । अतः लोक और परलोक दोनों व्यवस्थित हों, यही तात्पर्य इन ग्रन्थों का है ।

ब्रह्मसूत्र-उपनिषद् का सर्वप्रथम भाष्य चार अध्याय के माध्यम से महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ने "ब्रह्मसूत्र" के रूपमें किया । उपनिषद् के गूढ़ रहस्यों का स्पष्ट प्रतिपादन ब्रह्मसूत्र में प्राप्त होता है । पूर्व-मीमांसा में लौकिकपक्ष की प्रबलता है, जिसे जैमिनि सूत्र कहते हैं । उत्तरमीमांसा ब्रह्मसूत्र-न्यायप्रस्थान है । इसमें सर्वप्रथम ब्रह्मजिज्ञासा की गयी है—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" । मुमुक्षु जीवकी जिज्ञासा है कि ब्रह्म पदार्थ क्या है ? दूसरे सूत्रमें कहा गया—"जन्माद्यस्य यतः" जिससे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड पिण्ड की रचना, पालन और संहारादि कार्य होते हैं । तीसरे सूत्रमें कहा गया कि 'शास्त्रयोनित्वात्' वह श्रुति शास्त्रों का भी कारण है अथवा शास्त्र ही जिनका प्रमाण है । चौथा सूत्र है—'तत्तु समन्वयात्' अर्थात् दिव्य विग्रह से संयुक्त अखिल कल्याण गुण-सागर परब्रह्म स्वरूप श्रीसीतानाथ में सभी वेदान्तों का समन्वय होता है । इत्यादि सूत्र, उपनिषत् तात्पर्य के ही वाचक हैं । प्रथम का उदा-हरण-"आत्मा वा अरे!द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च" (बृ० ४।६।५) आदि । द्वितीय का उदाहरण-तैत्तिरीय में- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म इति' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मलक्षण कहती हैं ।

तृतीय सूत्र का उदाहरण विषय "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसि-तमेतदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्' (बृहदारण्यक ४।५।११) इत्यादि श्रुतियाँ ही ब्रह्म के कारण और कार्य रूपके कथन में प्रमाणहैं। चौथे का उदाहरण-द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०(मु० ३।१।१)

तथा 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। (श्वेत० ३।८) इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य ब्रह्म विशेष्य और जीव तथा जगत् उसके विशेषण हैं। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में **वट बीजन्याय** के अनुसार इन तत्त्वत्रय का 'अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध है'।

भगवान् बोधायनाचार्यजी ने इस ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ पर 'बोधायन वृत्ति' लिखकर 'श्रीविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किये। स्वामी रामानुजाचार्यजी ने इसी आधार पर **श्रीभाष्य** की रचना की। स्वामी रामानन्दाचार्यजीनेभी बोधायन वृत्तिके धरातलपर आनन्दभाष्यकी रचना की। पण्डितराज ज०गु० रामानन्दाचार्य स्वामी भगवदाचार्यजीने इस सूत्र ग्रन्थपर अभूतपूर्व "वैदिक भाष्य" की संरचनाकी तथा रामानन्द दर्शनके नामसे भी एक भाष्यका निर्माण किये। पण्डित सम्राट् पूज्यचरण स्वामी वैष्णवाचार्यजीने इस ब्रह्मसूत्र प्रस्थानके आनन्दभाष्यमें "अधिकरण रत्नमाला" ग्रन्थका निर्माण किये जो वस्तुतः श्रीसीतानाथ की वनमाला ही है। स्वामी रघुवराचार्यजी महाराजने इसी प्रस्थान पर 'रघुवरीय वृत्ति'का निर्माण किये। श्रीसम्प्रदाय (रामानन्द सम्प्रदाय)के महर्षियोंकी ये अमूल्य कृतियाँ सनातन धर्मके सार्वभौमिक सिद्धान्तको सुस्पष्ट प्रकाशित कर देती हैं। सन् १९६०में ज० गु० रा० स्वामी हर्याचार्यजी महाराज द्वारा प्रकाशित "श्रीसम्प्रदाय मन्थन" नामक ग्रंथ श्रीरामानन्द सम्प्रदायकी अमूल्य निधि है, जिसमें स्वसम्प्रदायके समस्त सिद्धान्त इतिहास और परम्परा आदिका सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है।

गीता—गीता शास्त्र स्मृति प्रस्थान है, स्मृतिका अर्थ मनु आदि धर्मशास्त्र है। गीताको धर्मशास्त्र मात्र कहना पर्याप्त अर्थ नहीं हो सकता। अर्वाचीन-प्राचीन सभी विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे इसे 'सर्वशास्त्रमयी गीता" स्वीकार किया है। समस्त व्यावहारिक और पारमार्थिक जीवनका जैसा अनुपम रहस्य इस ७०० श्लोकों वाली गीतामें प्राप्त होता हैं, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधी र्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

(गीता माहात्म्य)

उपनिषद्रूपी गौओंके श्रीयदुनन्दन दोहनकर्त्ता हैं। सुविनीत जिज्ञासु श्रीपार्थ वत्स हैं। आचार्यरूप स्वयं ब्रह्म श्रीकृष्णने पार्थ अर्जुन को इस गीतारूप दुग्धामृत का पान कराया। इसीलिए इसके प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति पर "इति श्रीमद् भगवद्गीतासूपनिषत्सु" के बहु-वचनान्त प्रयोग हुए हैं। 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इन दो पदोंसे ब्रह्म-विद्यामें योगशास्त्र है। योगका उपाय, लक्ष्य, युक्त होना इत्यादि अर्थ होता है। सनातनधर्मके वर्णाश्रम और विशिष्ट पंचदेवोपासनाके उपदेश के साथ अन्तमें शरणागति की विशेषताका प्रतिपादन है। श्रीमद्भगवद्-गीता श्रीवैष्णव जगत्की अमूल्य निधि है। इससे अर्जुनका मोह भंग हुआ। वह अपने क्षत्रिय कर्तव्य पर आरुढ़ होकर विजयी हुए। इसमें विद्वानोंकी अपनी-२ मान्यताएँ भिन्न-२ हैं। किसीने कर्मयोग प्रधान माना तो किसीने ज्ञानयोग प्रधान माना, किसीने सांख्य, किसीने योग, आदि। परन्तु मेरे विनम्र मतसे जो गीतामें नहीं है, वह कहीं नहीं है। यह लौकिक, वैदिक, वाङ्मय का शब्दकोष है। कर्म, ज्ञान, उपासना इन तीनोंका समान आदर है। आचार्य शंकरसे लेकर देश, विदेशोंमें इसकी अनेकों टीकायें हुईं, परन्तु यह अपनी रमणीयार्थ प्रतिपादकता शक्तिसे भरपूर है। **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। अहं त्वा सर्व-पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।"** इस विश्वास से जीव परमशान्ति का अनुभव करता है।

इस प्रकार जिस ग्रन्थमें ईश्वर ही कृपालु आचार्यके रूपमें भ्रमित जीवका उपदेशक बन गया हो, इससे बढ़कर इस ग्रन्थकी प्रामा-णिकता और क्या हो सकती है। श्रीगीताका मंगलाचरण धर्म व धर्म-क्षेत्रेसे प्रारम्भ होकर मम अथवा मतिर्मम में पर्यवसित होता है। जिसका अर्थ है कि धर्म एक है और वह मेरा है, इसका रक्षक मैं ही हूँ। अथवा मेरा स्वरूप ही धर्मक्षेत्र है और मैं ही बुद्धि-प्रदाता भी हूँ। संक्षेपमें यही रहस्य है।

॥ इति शम् ॥

श्रीवैष्णवाश्रयी—
रामदेवदासः

प्राक्कथन

ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदकी काण्व संहिताका अन्तिम अर्थात् चालीसवाँ अध्याय है। अतः इसको 'वेद+अन्त' वेदान्त की संज्ञासे विभूषित किया गया है। यजुर्वेदकी काण्व एवं माध्यन्दिन वाजसनेयि संहिताओंके अन्तिम अध्यायमें कुछ पाठभेद है। इसके विपरीत माध्यन्दिन वाजसनेयि संहिताके अन्तिम अध्यायमें केवल १७ मन्त्र हैं। जबकि काण्व शाखा की संहिताके अन्तिम अध्यायमें १८ मन्त्र हैं।

शुक्ल यजुर्वेद काण्व शाखाकी संहिताका चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद्के नामसे प्रसिद्ध है। इस अध्यायमें देवपरक शब्द होनेसे ईशसूक्त एव ब्रह्मविषयक ज्ञान होनेसे ब्रह्माध्याय, आत्माध्याय, आत्म-सूत्र, ब्रह्मसूक्त, आत्मज्ञान आदि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध है।

प्रथम मन्त्रके प्रारम्भमें 'ईशावास्यम्' पद होनेके कारणही इस उपनिषद्का नाम ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् पड़ा है। सभी उपनिषदोंमें इसका प्रथम स्थान है तथा इसको उपनिषद् भवन की आधार शिला कहा जाता है क्योंकि इसमें वर्णित शिक्षा तत्वज्ञानकी गीता अन्य उपनिषदोंमें विवेचना की गयी है और उनको अधिक विस्तारसे समझाया गया है। अतः इसका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करने एवं समझनेके लिए गीता, वेदमन्त्र एवं अन्य उपनिषदोंकी भी सहायता लेनी चाहिये।

यह उपनिषद् अपना एक विशिष्ट महत्व स्थापित करता है। यह यजुर्वेदकी मूल संहिताका ही भाग है। यह उपनिषद् आत्मविद्याके सभी ग्रन्थोंमें शीर्ष स्थान पर विद्यमान है। इसके १८ मन्त्रोंमें अत्यन्त स्पष्ट और सरल रूपमें परमात्माके स्वरूपका वर्णन एवं मानवके कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। जीवनकी लौकिक सफलता, मोक्ष एवं भक्ति, सेवा आदिकी प्राप्ति, समाजके विकास एवं मनुष्य जातिके उत्थानके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्तोंका प्रतिपादन इस उपनिषद्में

बड़े ही समारोहके साथ किया गया है। मानव जीवनका कोई महत्व-पूर्ण पक्ष अछूता नहीं बचा है जिसका निर्देशन इसमें न किया गया हो। साथही इसके मन्त्र अत्यन्त सरल हैं। जीवनको सफल बनाने हेतु इस उपनिषद्का अध्ययन परम आवश्यक है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वैदिक-धर्मका सत्य और आत्मज्ञानका आदि स्रोत इन १८ मन्त्रोंको सूत्र रूपमें भर दिया गया है। आजके युगमें जहाँ लोगोंको बृहद् अध्ययन का समय नहीं हैं उनके लिए तो और भी उपादेय है। बहुत थोड़े समयमें ही अत्यन्त ज्ञान गरिमासे साधक मण्डित हो सकता है। इसमें उच्चकोटि का सिद्धान्त भी विद्यमान है। आत्मा-परमात्माका सम्बन्ध, परमात्माका स्वरूप, मानव जीवनका परमलक्ष्य, उसकी पूर्तिका उपाय, कर्म और ज्ञानका समुच्चय, भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानका सामञ्जस्य ये सभी तत्व इस उपनिषद्में बीज रूपमें विद्यमान हैं। इन थोड़े से मन्त्रोंमें मानव जीवनका स्रोत भरा हुआ है। यह आश्चर्य और दुर्भाग्य ही कहा गया जायेगा कि आज हम अपने दैनिक जीवनमें इस उपनिषद्को स्थान नहीं दे पा रहे हैं। अतः इस अनुपम भण्डारसे वंचित हो रहे हैं।

यद्यपि यह बात अधिक प्रसिद्ध है कि भगवान् श्रीकृष्णने सभी उपनिषदोंको गौ रूपमें मानकर गीतारूपी महान् अमृतका दोहन किया है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

वास्तवमें गीतामें वर्णित कर्मयोग तथा अनासक्ति योगका मूल आधार यह ईशावास्योपनिषद् ही है। वर्तमान कालमें ११२ उपनिषद् प्राप्त हैं परन्तु इनमें मात्र ११ उपनिषद ही प्रमुख हैं। इन्हींपर विद्वान् महापुरुष आचार्योंने भाष्य लिखे हैं।

क्रम संख्या	उपनिषद्	वेद जिसके अन्तर्गत हैं
१-	ईशोपनिषद्	शुक्ल यजुर्वेद
२-	कठोपनिषद्	कृष्ण यजुर्वेद

३— केनोपनिषद् सामवेद
४— प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद
५— मुण्डकोनिषद् अथर्ववेद
६— माण्डूक्योनिषद् अथर्ववेद
७— ऐतरेयोपनिषद ऋग्वेद
८— तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद
९— बृहदारण्यकोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद
१०— छान्दोग्योपनिषद् सामवेद कृष्ण यजुर्वेद
११— श्वेताश्वेतरोपनिषद् ,,

उपनिषद्को मिथ्या कथन करने और भ्रम उत्पन्न करनेवाली आजकल कुछ ऐसीभी पुस्तकें मूर्खों द्वारा रचित हैं। उसमें एक अल्लोपनिषद् लिखा गया जो सर्वथा निन्द्य हैं।

मानव जीवनमें ईशोपनिषद् का महत्व—इस संसारका प्रत्येक प्राणी सुखकी कामना करता है फिर भी दुःख मिल जाता है, इसका प्रधान कारण मात्र अज्ञान और अनाचार है। अज्ञानका नाश मात्र ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। ज्ञान दो प्रकारका है—एक सांसारिक ज्ञान, दूसरा प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान, जो आधुनिक कालका विज्ञान कहा जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया गया है। आधुनिक कालमें विनाशक विज्ञानका विकास अधिक हुआ है जो हमें एक क्षणमें भस्म कर सकता है। पर यदि कहीं शान्ति की खोज करने के लिए तत्पर हो, तो वह मिल पाना कठिन है। भौतिक विज्ञान हमें किसीभी अवस्थामें सुख नहीं दे सकता है। आज जो लोग भौतिकताके चकाचौंधमें व्याप्त हैं वे भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर रहे हैं।

पाश्चात्य देशोंमें भौतिकताके चकाचौंधमें लगा हुआ मानव पूर्ण अशान्त है। वहाँ भौतिक विज्ञान चरम उत्कर्ष पर है। घोर मानसिक अशान्ति का वातावरण व्याप्त है, जिसके कारण वहाँके निवासी भी धीरे-२ अध्यात्म ज्ञानकी ओर उन्मुख हो रहे हैं जिससे आत्मिक सुखकी प्राप्ति हो।

आज स्वार्थपरक अनैतिक आचरणोंके फलस्वरूप विश्वमें जो अशान्ति एवं तनावकी भावना व्याप्त है उसका एकमात्र कारण अशिष्ट व्यवहार एवम् अनाचरण है। ईशावास्योपनिषद्में किसी प्रकार का साम्प्रदायिक आग्रह नहीं है। किसी वर्ग विशेषके लिएभी कोई निर्देश नहीं है। यद्यपि ईशोपनिषद् की कई टीकायें उपलब्ध हैं, परन्तु उनसे कोई लाभ जनसाधारण नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि वे इतने दुरूह एवं जंगल कर दिये गये हैं कि उनका वास्तविक भावभी गौण रूपमें ही है। आज कर्म की, ज्ञान की, धर्म की और सत्य की प्रेरणा अति-सरल तथा आग्रह मुक्त होना चाहिये, जिससे सर्वसाधारण उसके द्वारा प्रेरणा ग्रहण कर सके।

आचार्योंने अपने मतके अनुसार व्याख्या करके अपने सिद्धान्तों-का मात्र पोषण किया। यह उन सभी आचार्योंपर लागू होती है जो नवीन सम्प्रदाय चलाकर नयी व्याख्या करके खींच तानके द्वारा हमारे शास्त्रोंके सिद्धान्तकी छवि धूमिल कर रहे हैं, जो सर्वथा निन्द्य है।

वेदों का प्रादुर्भाव

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद इन चारों वेदों का प्रादुर्भाव परब्रह्मसे हुआ है। वेद अपौरुषेय हैं वे किसी मानवके बनाये हुए नही हैं। उनमें मानव विचार भी नहीं हैं, इतिहास भी नहीं है, क्योंकि ये सृष्टिके आदिकालमें ही परब्रह्म द्वारा क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन चार ऋषियोंके हृदयमें प्रकाशित हुए हैं।

वेद शब्द की निष्पत्ति "विद् ज्ञाने" धातुसे है। अतः वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। वास्तवमें वेद वह ईश्वरीय ज्ञान है जिसे परमात्माने कृपा करके प्राणिमात्र कल्याणके लिए हमें प्रदान किया है। सत्तार्थक विद् धातुसे भी निष्पन्न होता है। विद् धातु विचार अर्थमें भी प्रयुक्त है। विद्लृ धातुका अर्थ लाभ होता है। इन चार प्रकारके धातुओंसे करण तथा अधिकरण कारकमें घञ् प्रत्यय करनेसे वेद शब्द की सिद्धि होती है।

अतः जिसके श्रवण और अध्ययनसे सत्य ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा जीवनमें सुखकी सृष्टि होती है, जिसके द्वारा मानव-मात्रमें श्रेष्ठ विचार उत्पन्न होते हैं तथा जो दिव्य ईश्वरीय ज्ञान होनेके कारण शाश्वत एवं नित्य है, उसे वेद कहते हैं।

श्रवणार्थक 'श्रु' धातुसे करण कारकमें क्तिन् प्रत्यय करनेसे श्रुति शब्दकी निष्पत्ति होती है। सृष्टिके आरम्भसे लेकर अबतक वेदोंका गुरु-शिष्य परम्परासे श्रवण, मनन तथा अध्ययन होता चला आ रहा है। हमारे ऋषि, महर्षि, विद्वान् मनन तथा अध्ययन किया करते थे, ब्राह्मणोंने इसको श्रवण द्वारा प्राप्त करके अपने पुत्रों, शिष्योंको सुनाया तथा सिखाया है। अतः इसे श्रुति कहा जाता है। भारतकी यह अनोखी परम्परा चली आ रही है। अतः इसकी परम्परा आज भी अक्षुण्ण रहनी चाहिये। कितनी आश्चर्यजनक बात है, इसके लिए विद्वान् ब्राह्मणोंके बहुत बड़े त्याग तपस्या द्वारा आज इस परम्पराका दर्शन हो रहा है। वेदोंकी परम्परासे अध्ययन अध्यापन करने वाले अपने पूर्वजोंके ऋणसे हम कैसे उऋण हो सकेंगे ? आज हम विदेशियोंके दास बने हुए हैं। उन्हीं का अनुकरण भी कर रहे हैं। इन सब पर गम्भीरतासे विचार करना पड़ेगा, तभी हमारा उद्धार हो सकेगा।

वेदोंमें प्रतीकात्मक अर्थ अधिक है। वैदिक भाषामें अधिक महत्व प्रतीकों का रहा है। प्रत्यक्ष शब्दोंकी अपेक्षा परोक्ष संकेत ही अधिक महत्वपूर्ण है। **"परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः"** यह वैदिक अर्थोंका नियामक सूत्र है। मनुष्यके कण्ठसे जिन शब्दोंका उच्चारण होता है वे शब्द उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे गो शब्द कण्ठसे जन्म लेता है, फिर विनष्ट हो जाता है किन्तु जो गो पशु है वह जैसे पूर्वमें था वैसा ही आजभी है और आगे भी रहेगा। उसमें जो प्रक्रिया हो रही है, वह नित्य है। प्रकृतिमें गौ की मानवी कृति नहीं, एक नित्य कृति है। अतएव वह अपौरुषेय रचना है। गौ के प्रतीकसे जो अर्थ ग्रहण किये जाते हैं, वे भी नित्य होनेके कारण अपौरुषेय ही हैं। इस प्रकार सृष्टिका कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो विश्वकी रचनाके परोक्ष

अर्थोंकी व्याख्या न करता हो। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, समुद्र, मेघ, आकाश, नदी, वृक्ष, वन, जल, अग्नि इत्यादि जितने शत-सहस्र पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने प्रतीकसे सृष्टिके रहस्यको प्रकट कर रहे हैं। वे शब्द-मयी भाषाकी अपेक्षा कहीं गम्भीर अर्थोंके परोक्ष संकेत प्रदान करते हैं। ऋषियोंने अर्थोंकी इसी शैलीको अपनाया।

उदाहरणके लिए जो गौ है, वह दूधका प्रतीक है दूध देने वाले और भी कई पशु हैं पर उनमें गौ ही श्रेष्ठ है। गौ के शरीरमें कोई ऐसी रसायनशाला है जो जलको दूधमें बदल देती है किन्तु गौ भी तबतक दूध नहीं देती जबतक बच्चा नहीं देती। अतएव स्पष्ट हो गया कि नीर क्षीरमें परिवर्तन ही प्रजनन या मातृत्व है। दूध और पानीमें क्या अन्तर है? इस प्रश्नका प्रतीकात्मक उत्तर स्पष्ट है। पानी वह है जिसको मथनेसे त्रिकालमें भी घी या स्नेह नहीं प्राप्त होता किन्तु दूध ऐसा श्वेत जल है, जिसके रोम-रोममें घृतके कण व्याप्त रहते हैं यह घृत माताके स्नेहका फल है जो वह अपने वत्सके लिए प्रकट करती है। अतएव गौ मातृत्व या प्रजननका प्रतीक है। गौ जब गर्भिता होती है तभी वह बछड़ेको जन्म देती है। तभी उसमें दूध देनेकी क्षमता उत्पन्न होती है। गौका मातृत्व सोम है। वह गौ वृषभसुक्र या आग्नेय गुणसे गर्भ धारण करती है। यह अग्नि ही गौ में व्याप्त अग्नि है। पानी और घृतमें यही अन्तर है कि पानीसे आग बुझती है और घी से प्रज्वलित होती है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थोंमें कहा गया है कि घृत अग्निका साक्षात् रूप है—

एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद्घृतं। [तै० उ० १।१।८।६]

एतद् वै प्रत्यक्षं यज्ञरूपं यद् घृतम्। [शतपथ १२।८।८।१५]

जिस प्रकार वृषभ और गौसे वत्स का जन्म होता है-वैसे ही पुरुष और प्रकृति के पारस्परिक संयोग से विश्व का जन्म होता है। इस विश्वरूपी वत्स की माता को जो अनन्त प्रकृति है, अदिति कहते हैं, वह काम दुघा और विश्वधावस् धेनु कही जाती है।

काम ही उसका दूध है-और विश्व ही उससे तृप्त होने वाला वत्स है। इस प्रकार केवल गौ का प्रतीक अनेक अर्थों की उद्भावना

कराता है। जहाँ-जहाँ प्रजनन या मातृत्व है वहीं-वहीं गौ का रूपक चलता रहता है। ऐसे विश्वमें प्राणिमात्र की जितनी मातायें है सभी गौ के रूपमें हैं। सूर्यकी रश्मियाँ गौएँ हैं जो अपनी गति से समस्त संसारमें विचरण करती हैं। जिस पृथिवीमें उनका सम्पर्क होता है, उसे गर्भ धारण की योग्यता प्रदान करती हैं। सूर्य की उष्णता से पृथिवी गर्भित होती है। इसी प्रकार सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात हो जाता है कि वाक् भी गौ है। वह मन रूपी वृषभसे गर्भित होती है। मनके विचार ही वाणी में आते हैं और दोनों के संमिलनसे प्राण या क्रिया का जन्म होता है। वेदोंमें अनेक प्रकार गौ के रूपक का विचार किया जाता है। ऋषियों को अर्थों की यह परोक्ष शैली अत्यन्त मनः-पूत थी। जाने पहचानने पदार्थों को लेकर वे उनके साथ सृष्टि विद्या का सम्बन्ध जोड़ देते थे। इस बृक्ष को जब वृक्ष या अश्वत्थ कहा जाता है तब उसका अभिप्राय होता है कि अश्वत्थ के जन्म की कथा से विश्व के जन्म और विकाश की व्याख्या समझी जा सके। प्रतीकों की दृष्टिसे "ऋग्वेद" विश्वके समस्त साहित्यमें मूर्धन्य स्थान रखता है। इस समय संसारमें धार्मिक प्रतीकों की व्याख्या के प्रति एक नयी अभिरुचि दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि आज तक जो रुँधा हुआ मार्ग था वह प्रतीकात्मकता के द्वारा प्रशस्त हो जायेगा। ऋग्वेद के मतानुसार यह विश्व प्रजापति के मन की रचना है। जहाँ मन है वहीं कामना है। काम ही मन का प्रथम शक्ति बीज था, उसी के द्वारा यह संसार दृश्यमान है।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा विविश्रितः॥ (अथर्व ११।७।२४)

प्रलय के बाद एक मात्र शेष रहने तथा सबसे ऊपर विद्यमान होने से उच्छिष्ट कहते हैं। परब्रह्मसे यजुर्वेदके सहित ऋग्वेद, साम-वेद, अथर्ववेद तथा पुराण, समस्त देव एवं द्युलोक में स्थित समस्त प्रकाशमान पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। ॥ इतिशम्॥

—जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्य

❀ भूमिका ❀

अग्निवायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ।। (यजुर्वेद १।२३)

सनातन ब्रह्मने यज्ञों की सिद्धिके लिए अग्नि, वायु तथा आदित्य से ऋग्, यजुः तथा साम लक्षणोंसे युक्त त्रयी विद्या अर्थात् चारों वेदों का दोहन किया । महर्षि वेद व्यासने ब्रह्म के विषयमें लिखा है—

"शास्त्र योनित्वात्"–(ब्रह्मसूत्र १।१।३)

वेदों की उत्पत्ति का कारण होने से । अर्थात् ब्रह्मसे ही वेदों की उत्पत्ति हुयी है । क्योंकि जो न भीतर की ओर प्रज्ञा वाला है न बाहर की ओर प्रज्ञा वाला है, न दोनों ओर प्रज्ञा वाला है । न प्रज्ञान-धन है । न जानने वाला है । न नहीं जानने वाला है । जो देखा नहीं गया है, जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता । जो पकड़ने में नहीं आ सकता । जिसका कोई लक्षण नहीं है । जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता । जो बतलाने में नहीं आ सकता । एक मात्र आत्मा की प्रतीति ही जिसका सार है । जिसमें प्रपञ्च का सदा अभाव है ऐसा सर्वथा शान्त कल्याणमय अद्वतीय तत्त्व परब्रह्म परमात्मा का चतुर्थ-पाद कहा गया है। ब्रह्मज्ञानी मानते हैं कि वह परमात्मा जानने योग्य है । जिस प्रकार अनुमान प्रमाण और शास्त्र प्रमाणसे सिद्ध होता है कि इस जगत्का निमित्त कारण परब्रह्म परमेश्वर है, उसी प्रकार यह भी सिद्ध है कि वही इसका उपादान कारण भी है क्योंकि वह संसार में पूर्ण रूपेण अनुगत है । इसका अनुभाव भी परमेश्वरसे भिन्न नहीं है । अतः बृहदारण्यकमें कहा गया है–**'अदः पूर्णम्'** वह ब्रह्म पूर्णहै और यह जगत भी पूर्ण है । उस पूर्ण ब्रह्मसे पूर्ण संसार उत्पन्न होता है । पूर्णसे पूर्ण ले लेने पर भी शेष बचता है,यही उसका वैभव है । इसका तात्पर्य है कि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मा से यह समस्त संसार जो पूर्ण है, निकल जाने पर भी उसमें कोई न्यूनता नहीं आती । वह पूर्ण ही रहता है ।

इसी प्रकार प्रलयकालमें भी समस्त संसार उसकी कुक्षिमें आ जाने पर भी उसमें कोई अभिवृद्धि नहीं होती। गणन करने पर भी इस मन्त्रके साथ पूर्णमें से पूर्ण घटाने पर पूर्ण ही शेष रहता है यही स्थिति पूर्णमें से पूर्ण का योग अथवा गुणा करने पर भी होता है।

अङ्क विद्या में भी यही प्रमाणित किया गया है। अङ्कों में ९ के अङ्कको पूर्ण माना जाता है क्योंकि किसी भी अङ्क अथवा संख्या से इसका गुणा करने पर जो गुणन फल आता है, उसके अङ्कों का योग सदैव ९ ही होता है।

प्रमुख अङ्कों की संख्या ९ है। सम्पूर्ण अङ्कोंको आरोह अवरोही बनने वाली संख्या भी पूर्ण संख्या होती है।

पूर्ण संख्या ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १,=४५=९

पूर्ण संख्या १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९=४५=९

शेष पूर्ण संख्या ८, ६, ४, १, ९, ७-५-३, २=४५=९

इस प्रकार गणितके सिद्धान्तसे भी पूर्णसे पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही शेष रहता है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन त्रितापों के शमन के लिए समस्त संसार सदा व्यग्र रहा है। शान्ति का प्रयत्न मानव सदासे करता चला रहा है।

पूर्णात्पूर्ण मुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विश्याय यतस्तत्परिषिच्चते॥ (अथर्व १०।८।२९)

पूर्णसे पूर्णका उदय होता है। पूर्ण-पूर्णके द्वारा सींचा जाता है। हम उसे पूर्ण परमात्मा को जानें जिससे यह पूर्ण जगत सींचा जाता है। जगत का यह स्वरूप कैसा सुन्दर है। जो लोग जगतको मिथ्या कहते हैं उनको इस मन्त्र पर ध्यान देना चाहिये। जैसे माता-पिता अपनी सँतान का पालन-पोषण करते हैं उसी प्रकार वह पूर्ण परमेश्वर पूर्ण ससारका पालन-पोषण करता है। इसे जीवन रससे सींचता है।

यदि वह परमात्मा जीवन रससे न सींचे तो यह संसार असिंचित पौधे की तरह सूखकर नष्ट हो जाये। जीवन रस का यह कैसा

अद्भुत प्रभाव है। अथवा यह लहराता हुआ सागर है जिसका रस कभी भी नहीं सूखता है । न पुराना होता है न अल्पही होता है बल्कि उसके द्वारा निरन्तर सींचा हुआ यह जीवन मृत्यु पर शाश्वत विजयके रूपमें प्रतिभासित होता है। भगवान्‌की असीम कृपा एवं करुणा संसार पर विद्यमान है । सदैव दया की वर्षा होती रहती है और संसार रूपी फुलवारी को एक चतुर माली की तरह सींचता रहताहै। प्रत्येक पौधों से उसकी अपार प्रीति है । उनके वर्णोंमें अपनी कृपाकर वर्ण मिलाता रहता है । छोटे वड़े सभी पौधों पर उसकी असीम करुणाकी वर्षा होती रहती है । उसको सभी लोग देख भी नहीं सकते । यह क्रम अनन्त कालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा । कैसा अद्भुत है भगवान्‌का जनक एवं पालक रूप, जिसमें कोई पक्षपात नहीं होता है । उस करुणावरुणालय की दया कृपा अनन्त शक्ति सम्पन्न होकर संसारका मंगल करती है ।

यद्रोसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्या ।। (अथर्ववेद १।३२।३)

जिस प्रकार महासागर के स्रोत अनन्त होते हैं कभी नहीं सूखते उसी प्रकार भगवत् कृपा अनन्त होती है, कभी अवरूद्ध नहीं होती । यह जीवन रस उसीकी कृपाहै। इस रसको प्राप्तकर रसेश्वर प्रभुमें सर्मपित करदें यही जीवन का परमोद्देश्य होना चाहिए । यह अनन्तकालसे प्रवाहित है और प्रवाहित रहेगा । उसमें कभी कमी नहीं आयी और भविष्यमें भी कभी कमी नही हो सकती है ।

जैसे एक सरोवरसे अनेक स्रोत निकलते हैं उन सबमें एक रस प्रवाहित रहता है, उसी प्रकार जीवन रस प्रवाहित होता है । संसारके बने हुए सभी पदार्थोंमें एक ही अगाध जीवन महासागर से फैल रहा है । उसी के द्वारा संसार रसमय दृष्टिगोचर हो रहा है। अतः अक्षरके रूपमें भी उसी की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है । अतः व्यास जी कहते हैं—

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्र तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥

साक्षात् नारायण स्वयंभू ही वेदोंके रूपमें प्रकट हुए हैं। ईश्वर-कृत होनेसे बड़े-२ साधक विद्वान्‌भी इसका अर्थ निश्चय करनेमें मोहित हो जाते हैं। वेद और उपनिषद् दोनोंमें सत्यको ही ईश्वरके रूपमें स्वीकार किया गया है। सत्यका त्याग करके असत्यका आचरण करना महापाप है। सत्यके बराबर को भी प्राण नहीं कहा गया है। साधक सत्यको धारण करे तो परमात्मा सदा उसके साथ ही रहता है। पूरे विश्वका स्वामी आपके साथ रहे यह बहुत बड़ी बात है। सत्य ही परमात्माका स्वरूप है अतः सत्यसे कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। **"सत्यमेव जयते"** सत्यकी सदैव विजय होती है। सत्य और धर्मके वास्तविक अर्थका परिज्ञान करने के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान तथा शास्त्रोंके विविध उदाहरण तीनों प्रमाणोंको अच्छी तरह जानना परम आवश्यक है। जो परमात्मा उपनिषदोंमें प्रतिपादित है वह आँखोंसे दिखाई नहीं पड़ता। उपनिषद्‌के मन्त्र तो सरल है परन्तु उनका आशय अत्यन्त कठिन है।

आपके हाथमें दश रुपयेके नोट हों तो उसमें १ पैसा भी नजर नहीं आयेगा। आपको मात्र कागज दिखाई देता है। आँखें कहती हैं, यह तो मात्र कागज है और बुद्धि कहती है—नहीं यह दश रुपये हैं। नोट मात्र कागज दिखाई देता है। वास्तवमें नोटमें रुपये छिपे हुए हैं। नोटमें जो रुपये हैं वे निराकार हैं अतः दिखाई नहीं देते, वे बुद्धि ग्राह्य हैं। बुद्धि स्वीकार करती है कि इस नोटमें पैसे हैं और उसीको हम मानते भी हैं। उसी तरह भगवान् सबमें विद्यमान हैं पर नेत्रके विषय नहीं बन पाते। उसको हमें बुद्धिके द्वारा जानना चाहिये। अतः संसारमें प्राणिमात्रमें परमात्माका दर्शन करने लगें तो मेरे हृदयमें प्रेम जागृत होगा। हमारा पाप भी मिटता चला जायेगा। ऐसी कोई भूमि या कण नहीं है जहाँ परमात्मा का निवास न हो। परमात्मा सर्व में है। जिसके नेत्र प्रेमसे भरे हुए हैं उसको ही वह नजर आते

हैं। अपने नेत्रोंसे प्रेम का नीर बहने दो, जिसकी आँखमें मात्र पैसा है वहाँ पाप का निवास अवश्य है। वह भक्ति नहीं कर सकते। यदि आप भक्ति करना चाहते हैं तो भगवत् शरण ग्रहण करें। अपना जीवन सुखमय बनानेके लिए अपनी आँखोंमें प्रेम प्रतिष्ठित करो। जिसके हृदयमें प्रेम भरा हुआ है वह सर्वमें परमात्माका दर्शनकर सकता है। सर्वमें स्थित परमात्माको आँखोंसे नहीं बुद्धिसे देखा जा सकता है।

लड्डूके प्रत्येक कणमें शक्कर मिली हुयी हैं पर आँखोंसे दिखाई नहीं देती। लड्डूको हाथमें लेनेसे शक्कर हाथमें नहीं आता। अतः स्पष्ट हो गया कि प्राण सत्य सनातन परमात्मामें ही प्रतिष्ठित है। "**अत एव प्राणः**" प्राण ही ब्रह्म रूपमें कहा गया है। "**सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविसन्ति प्राणमभ्युज्जिहते**" निश्चय ये सभी भूत प्राणमें ही विलीन होते हैं और प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं। समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलयका कारण प्राणवायु नहीं हो सकता अतः यहाँ प्राणका अर्थ ब्रह्म ही कहा गया है। अतः सत्यकी उपासना ब्रह्मकी उपासना कही गयी है। सभी भूत प्राणियोंमें प्रेम होना भी भगवत् दर्शन होना है। जिसके नेत्रोंमें सर्वभूत हितकी भावना निहित है उसको भगवत् दर्शन हो रहा है। यह उपनिषदों का परम तात्पर्य है। वेदोंका अन्तिम भाग उपनिषत् है, अतः वेदोंका परमरहस्य उपनिषदोंमें विद्यमान है "**वेदानाम् उपनिषत् प्रमाणम्**" कहा गया है। भारतीय संस्कृति एवं समस्त शास्त्रोंके प्राण हमारे वेद हैं।

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रन्तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥

समस्त वेद, शास्त्र सनातन वेदसे ही निकले हैं। समस्त आगम शास्त्र एवं स्मृतियाँ आदि वेदोंको आधार एवं प्रमाण मानकर बताई गयी हैं। चारों वर्ण, तीनों लोक, पृथक्-पृथक् चार आश्रम तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्यके जो भी श्रेष्ठ कर्म हैं वे सभी वेदसे अनुमोदित एवं प्रसिद्ध हैं।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चा श्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति ।।

[मनु० १२।९७]

वेद भारतीय मनीषाके प्राण है। वेदोंके विना हमारे प्राणकी कल्पना नहीं हो सकती। उपनिषद् हमारे आर्यावर्तके जनमानसके हृदयका रहस्य है जिसे सँजोकर आजतक हम जीवित हैं। हमारे जीवनकी समृद्धि एवं थाती उपनिषद् हैं जो हमें पग-२ पर चलना सिखाते रहे हैं। धर्म आर्यावर्त की माटी, जलवायु तथा खूनमें व्याप्त है जिसको कभी कोई नहीं निकाल सकता है। धर्मके विना हमारे जीवनकी कल्पना ही व्यर्थ है। जब हमारे जीवनमें ऐसा संशय उत्पन्न हो जाता है, जहाँ हमारा उबरना कठिन हो जाता है तो उसका निर्णय सदा वेद और वैदिक ही करते रहे हैं। ऋक्, यजुस्, साम और अथर्ववेद हमारे जीवनको व्यवस्थित करने वाला निर्णायक परिषद् है। वेदका ज्ञाता एक भी द्विज सदाचारी हमारे लिए पर्याप्त है। अज्ञानी और कर्तव्याकर्तव्य विचारशून्य लोगोंके भीड़ की आवश्यकता हमें कभी भी नहीं रही है। यही कारण है कि हमारी संस्कृति अनवरत रूपसे आज-तक चली आ रही है।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ।।

[मनु० १२।१३३]

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" सम्पूर्ण वेद धर्मका मूल कहा गया है। विद्वान्को, समस्त वेद शास्त्रको ज्ञान चक्षुसे देखना चाहिये। वेदके अनुसार धर्मका आचरण सदैव करना चाहिये। धर्मानुसार आचरण करने वाला साधक ऐहिक सुख और पारलौकिक सुख दोनोंका सुख प्राप्त करता है। वेदके कथनानुसार आचरण करने वाला पुरुष वेदज्ञ एवं विद्वान् कहा जाता है। इससे विपरीत आचरण करने वाला पुरुष दुष्ट आचरणहीन कहा जाता है। अतः वेदोक्त आचरणका विधान मनुने अपनी स्मृतिमें कथन किया है। अतः स्मृति वचन, वेद वचनके

समान ही आदरणीय कहा गया है। श्रुति स्मृति भगवान्‌की ही आज्ञा है, उसका पालन करना भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना कहा गया है।

इस संसारमें धर्मके अनुसार आचरण करने वाला पुरुष श्रेष्ठ कहा गया है। वही वास्तवमें धर्मके तत्त्वको अच्छी तरह जानता है और उनके लिए वेद भगवान् ही परम प्रमाण हैं।

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत् परं सत्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ।।

[मनु स्मृति० १२.९९]

वेदाध्ययन की अनिवार्यता—'**प्रमादो वै मृत्युः**" प्रमाद ही मृत्यु है। अतः प्रमाद का त्याग करके ब्राह्मणको वेदाध्ययन करना चाहिये।

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालयतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ।।

[मनु० ४।१४७]

ब्राह्मणको अपने स्वरूपको आज समझना पड़ेगा। आज वह समाजसे भागकर नहीं बच सकता क्योंकि समाजका उत्तरदायित्व सदैव इसीके ऊपर रहा है। स्वाध्याय ही ब्राह्मणका सर्वोत्कृष्ट तप रहा है। आज वह उसीके पीछे छूटा जा रहा है क्योंकि वह अपनी विद्याको दूसरेके आसरे छोड़ दिया है। अतः समाजमें आज उसका अपमान हो रहा है। वेदाध्ययन ही उसका महत्व और गौरव रहा है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।

[मनु० २।१६८]

छन्द शब्दका प्रयोग जो वेदों, उपनिषदोंमें है उसका कुछ हेतु है। "छान्दांसि छादनात्" (निरुक्त अ० ७ खण्ड १२) छादन अथवा रक्षा करने वालेको छन्द कहा जाता है। अविद्या आदि समस्त दुःखोंका निवारण करने तथा सुखोंको आच्छादित करनेके कारण छन्द अथवा वेद कहा जाता है। "**अविद्यादि दुखानां निवारणात् सुखैराच्छानाच्छन्दो वेदः**" (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका) आह्वान दीपन वाली **चदि** धातुमें असुन् प्रत्यय करनेसे "**चन्देरादेश्च छः**" सूत्रसे चकारके स्थान

पर छकार होनेसे छन्द शब्दकी निष्पत्ति होती है। अतः छन्दका अर्थ ज्ञान का प्रकाश एवं सुख प्रदान करने वाला हुआ। वेदके अध्ययनसे मानव समस्त विद्याओं का ज्ञाता हो जाता है। वह आह्लादित सुखी एवं सर्वार्थज्ञाता होता है। अतः मन्त्रोंको छन्द अथवा वेद कहा जाता है। दूसरा हेतु है छन्दों द्वारा आच्छदन अथवा रक्षा किये जाने के सम्बन्धमें। छान्दोग्य उपनिषद्में वर्णन आया है—

वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लदी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः। (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका) देवता लोग मृत्युके भय से वेदोंमें प्रविष्ट हो गये और उन्होंने गायत्र्यादि छन्दोंसे अपने को आच्छादित कर लिया। देवोंने अपनी रक्षा हेतु स्वयंको छन्दोंसे जो आच्छादित कर लिया यही छन्दों का छन्दत्व वेदज्ञों द्वारा कहा गया है। **ख्यायते वेदवादिभिः॥**

जिस प्रकार भगवान् भास्कर की किरणें सूर्यके रथ के साथ सात अश्व प्रसिद्ध हैं वैसे वेदमें सात छन्द होते हैं। पुराणोंमें सूर्यके सात अश्वोंके नाम भी बताये गये हैं जो वैदिक छन्दों के नाम हैं।

वैसे छन्द शब्द का अर्थ सूर्यरश्मि भी होता है। इन सात छन्दोंमें सर्वप्रथम प्रमुख गायत्री छन्द है। जिसमें २४ अक्षर होते हैं। उसके बाद छन्दोंमें क्रमशः चार-चार अक्षर अधिक होते जाते हैं। एक या दो अक्षरों की न्यूनता अथवा अधिकतासे छन्दों का भेद नहीं होता। निर्धारित संख्यासे अक्षरोंके न्यून अथवा अधिक होने पर छन्द के नामके साथ भिन्न-भिन्न सांकेतिक शब्द लगाये जाते हैं। उदाहरण के रूपमें गायत्री छन्द—

"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्"। (यजु० ३।३५।१) इस ऋचाके प्रथम पादमें ८ अक्षरों के स्थानमें ७ अक्षर हैं। अतः इसमें केवल २३ अक्षर होने से यह छन्द निचृद् गायत्री कहा जाता है। पिंगल सूत्रमें प्रथम सप्तक के लिए छन्दों के स्वरों का निर्देश निम्नाङ्कित है।

छन्द—	स्वर—
गायत्री	षड्ज

उष्णिक्	ऋषभ
अनुष्टुप्	गान्धार
बृहती	मध्यम
पङ्क्ति	पञ्चम
त्रिष्टुप्	धैवत
जगती	निषाद

छन्दों का गान उनके निर्धारित स्वरोंमें ही क्रिया जाता है। छन्दोंका मान स्वर नहीं उनका वर्णभी निर्धारित होता है । उदाहरण रूपमें गायत्री श्वेत वर्णी होती है । **गायत्री वै देवानामेकाक्षरा श्वेतवर्णी च व्याख्याता।** (गोपथ०, १।१।२७) देवताओंकी एकाक्षरा गायत्री श्वेतवार्णी कही गयी है। इसी प्रकार देवताओं से विशिष्ट सम्बन्ध होता है । उदाहरणार्थ गायत्री छन्द का अग्निके साथ तथा उष्णिक् का सविता के साथ विशिष्ट सम्बन्ध माना जाता है । **तेषाम् ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।** (महर्षि जैमिनिमीमांसा २।१।३५)

उन मन्त्रोंसे जिनमें अर्थके अनुरोध से पाद व्यवस्था होती है वे ऋक् कहे जाते हैं । इससे स्पष्ट हो गया कि छन्दों की पाद व्यवस्था का भी मन्त्रों के अर्थों से गूढ सम्बन्ध होता है ।

इस प्रकार मन्त्रमें प्रयोग पादों को घटा बढ़ाकर अर्थ नहीं किये जा सकते । मन्त्रों का अर्थ पादक्रम से ही होना चाहिए । अतः मन्त्रों के सही अर्थ एवं छन्दों की पूर्ण जानकारी होने पर ही सही अर्थ किया जा सकता है । इसमें 'छन्दः शास्त्र' का सम्यक् ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। सही अर्थोमें वेदार्थ के लिए तथा महत्वपूर्ण ज्ञान हेतु छन्द शास्त्र की जानकारी अत्यन्त आवश्यक कही गयी है ।

गायत्री छन्दमें आठ-आठ अक्षर होते हैं । अक्षर के तीन पाद होते हैं । इस प्रकार सब मिलाकर ३२ अक्षर होते हैं । ऋग्वेद का प्रारम्भ ही गायत्री छन्दसे किया गया है । गायत्री छन्द सभो छन्दोंमें श्रेष्ठ कहा गया है ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥
[गीता १०।३५]

साम वेदके मन्त्रोंमें बृहत्साम मैं हूँ। छन्दोंमें गायत्री, महीनोंमें मार्गशीर्ष तथा ऋतुओंमें बसन्त ऋतु हूँ। यह गायत्री, सावित्री मन्त्रको भी सँजोये हुए है क्योंकि इसकी देवता सविता है। "**भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।**
(ऋग्० ३।६२)

इस वेदमाता अथवा ज्ञानाधिष्ठात्री ब्रह्मगायत्रीका अर्थानुसन्धान इस प्रकार है—जप कालमें यही प्रक्रिया अपनानी चाहिये। जपके अन्तमें भगवान्को अपना माता-पिता मानकर विश्वासपूर्वक उससे अपनी मनोकामना का निवेदन करना चाहिये।

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यधीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

अर्थात् हे अन्तर्यामिन्! सर्वव्यापक सर्वेश्वर! सर्वशक्तिमान् परमपिता! हे सर्वाधार! आपकी ही एकमात्र और अनन्त सत्ता पर यह सारा ब्रह्माण्ड आश्रित है। हे सर्वज्ञ! हमारे समस्त अवगुणों, दुःखों, कष्टों को जानने वाले और उन्हें दूरकर हमें सुख देने वाले, सुख स्वरूप परमानन्दको देने वाले सच्चिदानन्द! समस्त संसारको उत्पन्न करने वाले और प्रेरणा देने वाले, पालन-पोषण करने वाले उस परब्रह्मके श्रेष्ठ तेजको जो पापनाशक एवं परम मंगलकारी है, उसका हम ध्यान एवं उपासना करते हैं या अपने अन्दर धारण करते हैं। जो हमारी बुद्धिको शुभकी ओर प्रेरित करें। मन वाणी एवं कर्मोंको शुभकी ओर प्रेरित करें।

गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्रीयं ततः स्मृता।

गान करनेवाले की जो सतत् रक्षा करती है, उसे गायत्री कहते हैं।

गायत्री पदमें गाय+त्री ये दो शब्द हैं। गय नाम प्राणोंका है। त्रै धातुसे स्त्री लिंगमें त्रय बनता है। अतः गायत्रीका अर्थ प्राणोंकी रक्षा करने वाली है।

गायत्री गायन्ते स्तुतिकर्मणः, त्रिगमना वा विपरीतामापती मुखादुतपतदिति च ब्राह्मणम् । **(निरुक्त ७।१२)**

स्तुति गान किये जानेसे गायत्री कही जाती है। स्तुत्यर्थक गै-धातुसे अत्रच् प्रत्यय करने पर गायत्री शब्द निष्पन्न होता है।

अथवा यह छन्द तीन पादों वाला होता है। अतः गैधातु और त्रैधातु के योगसे गायत्री निष्पन्न होता है।

ब्राह्मणका कथन है, गान करते हुए परमेश्वरके मुखसे सर्वप्रथम इसी छन्दका सृजन हुआ। अतः इसका नाम गायत्री है। गै-धातुसे यत् प्रत्यय इससे रक् प्रत्यय लगने पर गायत्री शब्दकी निष्पत्ति होती है। वेदमें प्रतिपादन किया गया है। गायत्री छन्दसे पूजनीय ब्रह्मकी स्तुतिकी गयी है अतः गायत्रीमें प्राणोंकी रक्षा करनेकी शक्ति है।

गायत्री प्रतिमिमीते अर्कम्। (ऋ० १।१६४।२४)

गायत्री छन्दके द्वारा अर्चनीय देवका प्रतिपादन अथवा गुण-वर्णन किया गया है।

यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितम्। [ऋग्० १।१६४।२३]

यह सूर्यके तेजसे उत्पन्न होकर भगवान् श्रीरामके चरित्रको २४ अक्षरों द्वारा पूर्ण गायन क्रिया है। अतः इसकी प्रसिद्धि गायत्रीके रूपमें हुई। रामजीने मर्यादापूर्वक सारे संसारका कल्याण एवं मंगल किया है। वही गान गायत्री द्वारा हुआ अतः इसको गौरव प्राप्त हुआ।

वेदोंके विषयमें दो दृष्टिकोण—वेदोंके विषयमें पूर्व और पश्चिम दो प्रकारके दृष्टिकोण सामने आते हैं। पश्चिमी लोगोंके अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरम्भिक चेतनाकी अटपटी उक्तियाँ हैं। उनमें न परस्पर संगति है और न परस्पर सगति है और न सुलझे हुए अर्थोंकी स्थापना। वेद धार्मिक विश्वासोंके विजड़ित पोथे हैं जिनके बहुतसे अश बुद्धिगम्य नहीं है। मानव जातिके सीखने वाले बच्चे जिस आश्चर्यसे विश्वको देखते हैं उसीकी छाया मन्त्रोंमें है। उनमें किसी समन्वित या संप्रतिष्ठित दार्शनिक विचारकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसी सूत्रको पकड़कर पिछले सौ वर्षोंमें वेदोंके अनेक भाष्य और व्याख्या-ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। आज

हमारे आधुनिक विद्वान् जो भारतीय हैं वे भी इसीमें रुचि लेते हैं। उनका दृष्टिकोणभी यही है। उनके लिए ब्राह्मण ग्रन्थोंमें कही जाने वाली वेद व्याख्या अधिकांशमें अनास्था की वस्तु है परन्तु परम्परागत दृष्टि वेदको ऋषियोंका परिपूर्ण ज्ञान मानती है। जो कोई दिव्य समष्टि ज्ञान है वे उसीकी शब्दमयी अभिव्यक्ति है। इस अवस्थामें वैदिक अर्थोंके प्रति नयी श्रद्धाका जन्म होता है।

वेदोंके तात्पर्य विदेशी मस्तिष्क के परे हैं। उनका विचार मात्र भौतिक धरातल पर ही रह जाता है। वेद का अर्थ और उन पर पूर्वापर विचार यह वैदेशिकों की शक्ति के परे है। वेद मन्त्रोंके अर्थों का दर्शन ऋषियों ने तप द्वारा प्राप्त किया और वैदेशिक विद्वान का खोज मात्र रेस्टोरेण्ट तक ही सीमित है। अतः वेदके मन्त्रों के साथ वह कभी भी न्याय नहीं कर सकते। जो शाकाहारी नहीं है वह शाकाहारी के आनन्द को कैसे समझ सकता है। और फिर मन्त्रोंके अर्थोंकी पारस्परिक संगति लग सके, मन्त्रोंकी परिभाषात्मिका शब्दा-वली यज्ञ के कर्मकाण्ड तथा सृष्टिके वास्तविक वैज्ञानिक रहस्य की एक सूत्रता या संगति प्राप्त की जा सके। पश्चिम में जो वेदार्थ का प्रयत्न हुआ उस पर दृष्टि डालते हुए श्रीइ०जे० टामसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि यह समस्या सुलझी नहीं है। तथा आगे बढ़ने का मार्ग अवरुद्ध सा दिखाई पड़ता है। हमारी सम्मति में भारतीय दृष्टि से ही वेदार्थ की समस्या का समाधान सम्भव है। सर्वप्रथम यह अवस्था होनी चाहिए कि जिन उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थोंकी अत्यधिक महिमा कही जाती है उन सबका स्रोत वेद है। जो अमृत दुग्ध है, उसका निर्झर वेद रूपी गौ में ही निहित है जिसे गौ का अमृत वाक्-तत्वभी कहते हैं। यह अमृतवाक् विश्वका विराट् मन या समष्टि ज्ञान है। यह एक समुद्र है जिसके एक-एक बिन्दुसे मानवी मस्तिष्क सोचते और विचारते हैं। व्यक्ति के मनमें जितना आज तक आ चुका है जो कुछ भविष्य में प्रतिभासित होगा, उस सबका स्रोत उसी विश्वात्मक ज्ञान में है। जिसे वेद कहा जाता है उसे ही अव्यक्त सरोवर, ब्राह्मसर, वाक्-समुद्र या अपौरुषेय ज्ञान कहते हैं।

उस वाक् के दो रूप हैं—एक परा दूसरी अपरा। अपरा स्थूलमयी (शब्दमयी) वाक् है जो बुद्धि का स्पर्श करते हैं किन्तु परा वाक् मूल अक्षर तत्व है जो हृदय का स्पर्श करती है या हृदय में प्रविष्ट होकर अपनी शक्तिसे जीवन का निर्माण करती है। इसको सहस्राक्षरा वाक् भी कहते हैं इसी अक्षर वाक्से गायत्री आदि सप्त-छन्दों का वितान या विकाश हुआ है। यही अक्षर तत्वही भारतीयों का सर्वस्व है। इसी पर रामायण जो पञ्चम वेदके रूपमें हमारे यहां प्रतिष्ठित है उसका मूलभी वेदों के द्वारा हो है। यही अक्षर ब्रह्म के रूपमें भी भारतीयों ने सदैव स्वीकार किया है।

अक्षरेण मिमते सप्तवाणी। (ऋगवेद १।१६४।२४)

देव तत्व का अन्वेषण—वैदिक सृष्टि विद्या की दृष्टिसे विश्व में दो ही मूल तत्व हैं। एक देव दूसरा भूत। देव तत्वका ही दूसरा नाम शक्ति तत्व है। देव या शक्ति सूक्ष्म और अदृश्य है। भूत दृश्य और स्थूल है। प्रत्येक भूत एक-एक कूट का ढेर है, जिसकी विधृति शक्ति या देव कहलाती है। बिना देवके किसी भी भूतकी अलग सत्ता सम्भव नहीं है। मूल भूत देवतत्त्व एक और अखण्ड है। उसी सृष्टि के लिए बहुभाव या नानाभावमें परिणत होता है। "**एको देवः सर्व-भूतेषु गूढ़:**" यही सृष्टिका मूल सूत्र है। "**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**" इस नियम के अनुसार एक ही तत्व बहुत्व को प्राप्त होता है। जो मूलभूत परमात्मा एकत्व विशिष्ट रूपमें कहा गया है। '**एकमेवाद्वितीयम्**' वह ऐसा एक है जिसमें दो तीन चार संख्याओं की कल्पना नहीं की जा सकती है, परन्तु वह अपनी निगूढ शक्तिके द्वारा स्वयं ही बहुभाव को प्राप्त होता है। यद्यपि देवोंके बहुत नाम कहे गये हैं, सब नामों के मूलमें एक ही प्रतिष्ठित है।

यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्ने भुवनायन्त्यन्या। ऋगवेद १०।२२।३

वह मूल भूत देवतत्व संप्रश्न भी कहा जाता है। आदि से अन्त तक वह १ प्रश्न या पहेली हो रहता है। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सभी उसका कथन करते हैं। पर उसके रूप गुण आदिकी

चर्चा मात्र रह जाती है। वास्तविकतासे सभी अपरिचितही रह जाते हैं। उसके शक्तिका क्या स्वरूप है ? इसकी मीमांसा विविध प्रकारसे लोग किया करते हैं पर उसको शब्दोंमें नहीं बाँधा जा सकता। जब हम विश्वकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो उस मूल शक्तिको प्रजापतिके रूपमें स्वीकार किया जाता है। प्रजापतिके भी दो रूप हैं—एक अनिरुक्त दूसरा निरुक्त। एक अमूर्त्त दूसरा मूर्त्त। एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। एक ऊर्ध्व दूसरा अधः। एक अतत् दूसरा सतत् है। उसको इदं इत्थम् भी कहा जाता है। जो विश्वातीत रूप है वह 'तत्' है जो विश्वात्मक रूप है वह 'इदं सर्वम्' है। प्रजापतिका एक रूप अजायमान है। दूसरा '**बहुधा विजायते**' कहा जाता है। **प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर-जायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।** [यजु० ३१।१९]

जो अजायमान या विश्वातीत रूप है उसे गर्भ, योनि, नभ्य, प्रजापति, गुहा या पर्वतके समान अविचाली अद्रि तत्व भी कहा जाता है। वही परम व्योम या परमाकाश है। परावाक् उसीका रूप है। अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा-इन देवोंकी पृथक् कल्पना सहेतुक है, क्योंकि मूलभूत एक शक्ति विभिन्न रूपमें कार्य करते हुए देखी जाती है, किन्तु उसका जो मूलभूत स्वरूप है वह भिन्न नहीं होता। जिस प्रकार महाकाल की दृष्टिसे ऊषा एक है पर सापेक्ष-काल परिवर्तनशील सम्वत्सर की प्रतिदिन नयी ऊषा का उदय होता रहता है। जैसे समस्त ब्रह्माण्ड मूलभूत अग्नि एक है पर शक्ति नाना-रूपोंमें वही अनेक प्रकारसे विकसित होता है। उसी प्रकार वैदिक ऋषियोंने इस तथ्यका प्रत्यक्ष दर्शन किया था कि समस्त भूमण्डलका रचयिता प्रजापति एक है और वह तत्व इन सबमें समाया हुआ है। दूर और निकट अणु और महत् भूत और भविष्य सर्वत्र उसीकी सत्ता है। वही अखण्ड सूत्र सबमें पिरोया हुआ है जिसके कारण उसको अखण्ड और अन्तर्यामी भी कहा जाता है। अपने स्वयं अजायमान होकर सभीके भीतर समाया हुआ है और वही नियमन भी करता

है। उसीके नियम या धर्मोंके कुक्षिमें सभी भुवनोंके चक्र पिरोये हुए है। इसलिए वह सर्वान्तिर्यामी कहा जाता है। अतः उसको सूत्रात्मा भी कहा गया है। यह रहस्य है इसीको उपनिषद्भी कहा जाता है।

प्राण या जीवन शक्ति—

"क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।"

अस्यवामीय सूक्तमें कहा गया है : अक्षरसे ही क्षर का जन्म होता है। इस अक्षर या देव तत्वकी अभिव्यक्ति तीन रूपोंमें होती है। एक वृक्ष वनस्पति दूसरे पशु, पक्षी और तीसरे मानव। इन तीनोंमें जो शक्ति तत्व है उसका स्वरूप भिन्न है उसको उपनिषदोंमें प्राणाग्नि कहा गया है। प्राण या जीवन चैतन्यका हरि रूप है जो आज विश्व का सबसे बड़ा रहस्य है। प्रजापति विद्याका सबसे महान् एवं रहस्यात्मक रूप जीवन या प्राण है। प्राणके स्रोत उद्गम वृद्धि, विकास और ह्रासके नियम मानवके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा है। प्राणही आयु है और प्राणही अग्नि है। प्राणविद्या सभी विद्याओंमें श्रेष्ठ कही गयी है। ऋषियोंकी दृष्टिमें प्राणविद्या ही विश्वविद्या है। इसी की व्याख्या हमारे यहाँ यज्ञोंके द्वाराकी जाती है। हमारे ऋषियोंने इसपर बहुत गहन बिचार किया है। उसका स्वरूप-तत्व क्या है ? इस पर भी बहुत अधिक विचार हुआ है। वेद-विद्यामें अमृत-तत्व तथा जीवन-तत्व भरे पड़े हैं। संसारमें जहाँ कहीं भी जीवन है, वह यज्ञ है। उस यज्ञका आरम्भ प्राणापानके स्पन्दनसे होता है। प्राण शक्तिका रूप है और शक्ति सदा ही सहकारी रूपोंमें प्रकट होती है। प्राणका स्वरूप स्पन्दन है। जैसे कोई बालक सोता हुआ जागकर अपना जीवन प्रारम्भ करता है, उसी प्रकार बीजके केन्द्रमें प्रसुप्त प्राणविन्दु का जागरण या क्षोभ होता है। इसको आजका विज्ञान समञ्चन प्रसारण कहता है।

प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम् । [शतपथ ८।१।४।१०]

सिकुड़ना और फैल जाना यही स्पन्दनका स्वरूप है। धनसे ऋण और ऋणसे धन विन्दुकी ओर जाना यही विद्युत्का रूप है। इसको ही वैदिक भाषामें 'एति' च 'प्रीत च' कहते हैं। प्राण एवं अपानके रूपमें स्पन्दित होती हुयी आयुपर्यन्त सक्रिय रहती है।

अन्तस्चरति रोचनास्य प्राणादपानती व्यख्यन् महिषो दिवम् । **ऋगवेद १०।१८९।२** यही मानव जीवन का रूप है । इस मन्त्र का देवता आत्मा या सूर्य हैं । वैदिक परिभाषामें विराट आत्मतत्व का सर्वोत्तम प्रतीक सूर्य ही माना गया है । **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** ब्रह्म के दो रूपों को स्वीकार किया गया है जो मूर्त्त है वह असत्य, जो अमूर्त्त है वह सत्य है ।

औपनिषद ज्ञानकी नित्यता—हमारे उपनिषद् ज्ञानमें मूल तत्व परब्रह्म है । उसी को ज्ञान स्वरूप कहा गया है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान एक व्यापक और नित्य तत्वके रूपमें हमारे समक्ष आता है, जो सदा परिवर्त्तनशील है । ज्ञानका रूप बदलता रहता है वह धारा-वाहिक नहीं होता । प्रतिक्षण बदलने वाला ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रतीति भी कराता है । यदि दत्त चित्त होकर विचार किया जाय तो इसमें दो अन्शों का निरूपण होता है । पहला प्रकाशन दूसरा प्रकाश्य । प्रकाश्य बदलता रहता है परन्तु उसके प्रकाशांशमें कोई परिवर्तन नहीं होता । शास्त्र कहतेहैं कि विषयका परिवर्तन होता है ज्ञानका नहीं । **"विषयः परिवर्तते न तु ज्ञानम्"** ज्ञान नाम प्रकाशांश का है प्रकाश्य उसके साथ बँधे हुए आ जाते हैं । वह प्रकाश नित्य एवं विभु है । मानव जो जाननेके लिये प्रयत्नशील होताहै तब किसी वस्तु को जान पाता है । वह प्रयत्न मात्र अज्ञान की निवृत्ति के लिए है । सृष्टिमें रस और बल ये दो मूल तत्व है । उनमें रस ज्ञान रूप है और बल उसका आवरण करने वाला होने के कारण उसका विरोधी, अतः वह अज्ञान शब्दसे कहा जाता है । अज्ञान का आवरण हटने पर ज्ञानका प्रकाश होता ही है । जैसे बादल सूर्य को अपने आवरणसे ढक लेता है पर बादल के हटने पर सूर्य का प्रकाश पूर्ववत हो जाता है । सूर्य की चमक कहीं से उधार नहीं लेनी पडती, ठीक यही स्थिति इस ज्ञान की है । व्यापक और नित्य ज्ञान का जो एक स्वाभाविक आवरण है उसे हटा देने पर ज्ञान अपने रूपमें प्रकाशित हो जाता है । ज्ञान को

उत्पन्न करने की कोई सामग्री नहीं चाहिये। ज्ञान ही सबका जनक है। उसका जनक कोई नहीं हो सकता।

नास्तिक दर्शन जैसे चार्वाक् और आधुनिक साइन्स यह नहीं मानते हैं। इस समय उसके अनुयायी बहुत अधिक हैं। वे लोग यह कहते हैं कि ईश्वर या जीव कोई स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। ज्ञान मात्र संयोग जन्य है। जैसे बबूल की छाल गुण आदिका स्वाद भिन्न भिन्न रहने पर किसी मादक शक्ति का अनुभव नहीं होता। किन्तु इन वस्तुओं के संयोगसे जो मद्य बनाया जाता है उनमें मादकता आ जाती है और मादक शक्ति भी विद्यमान रहती है। उसी प्रकार गाड़ी का उदाहरण वह देते हैं कि स्वयं गाड़ी में सामान ले जाने की शक्ति होने पर भी वस्तु, सामान नही ले जाती पर उसमें अधिक जोड़ने पर वस्तु या सामान ले जाने की छमता आ जाती है।

उसी प्रकार ज्ञान संयोजक पदार्थ है। जड़ चेतन की एकता भी इसी प्रकारकी है कि गोमयमें चैतन्य नहीं होता, पर उसके विकृत होने पर एक विच्छू उसमें से उत्पन्न हो जाता है। अचेतन के सड़ने पर उसमें अनेक कीड़े उत्पन्न होते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि ज्ञानमात्र संयोग जन्य है। वह स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं है। उक्त दृष्टान्त के अनुसार ही माता-पिता के रज और सुक्र मिलकर कुछ काल तक गर्भाशय की ग्रन्थि में निरुद्ध होने के कारण सड़ जाते हैं। तो उनमें भी फलों के कृमि पैदा हो जाते हैं और वही एक दूसरेको खाने लगता है। खाते-२ एक बड़ा कृमि तैयार हो जाता है। वह मनुष्य पशु आदि के रूपमें दिखाई देता है और कार्य करने लगताहै। यहाँ कोई आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं है। जब एक आत्मा ही सिद्ध नहीं होता तो सर्वव्यापक सिद्ध होने की क्या बात। अतः वैदिक सिद्धान्त में आत्मा या ईश्वर युक्त प्रमाण से विरुद्ध है।

हमारे वैदिक विज्ञान ने इसका समुचित उत्तर दिया गया है कि ज्ञान से अर्थ की उत्पत्ति होती है। जसे मेरे समक्ष अनेक वस्तु उपस्थित हों, उनमें से एक दो आदिकी गिनती करके उन्हें चार-पाँच

या दश कह दिया करते हैं। यह संख्या कहाँसे आयी। वस्तुके संयोगसे यदि संख्या उत्पन्न हुई होती तो वह वस्तु जहाँ भी रहती वहीं चार, पाँच या दश ही कही जाती पर ऐसा नहीं होता। जहाँ दूसरोंके साथ मिले वही चार, पाँच, दश कहलायेगी। एक-एक वस्तुको पृथक्-२ देखने पर किसी संख्याका भाव उत्पन्न नहीं होता। इससे मानना पड़ेगा कि चार, पाँच, दश की संख्याका निर्माण हमारे ज्ञानने ही बनाया है। हम औरोंके साथ मिलाकर उस वस्तुको देखते हैं, अतः हमारा देखना ही उन संख्याओंको पैदा कर देता है।

दो डण्डे हमारे समक्ष रक्खें हों। उसमेंसे १ को हम छोटा और दूसरेको बड़ा कह दिया करते हैं। वही डण्डा अन्य लम्बे डण्डेके पास रख दिया जाय तो वह छोटा कह दिया जाता है और जिसको पहले छोटा कहा था यदि उसको अन्य और छोटेके पास रख दिया जाता है तो उसे लम्बा कह दिया जायगा। यहाँ विचारणीय वस्तु यह है कि यह वस्तुमें लम्बाई, छोटाई, मोटाई कोई विशेष धर्म नहीं है। अतः यह छोटापन, मोटापन, बड़ापन आदि परिमाण का जनक हमारा ज्ञान ही है।

जब हम किसी कारीगर को कुछ बनानेके लिए कहते हैं तो पहले उसके मनमें उस वस्तुका आकार-प्रकार अवश्य आता है। उसके मनमें पहले उस वस्तुका आकार आ ही जाता है उसीको वह बाहर प्रकट कर देता है। अतः स्पष्ट है कि जो ज्ञान उसके अन्तरमें नहीं है, उसको वह प्रकट भी नहीं कर सकता है।

इसी प्रकार फोटोग्राफ, फोनोग्राफ या रेडियो यन्त्रका आविष्कार करने वाला प्रथम अपने हृदयमें उस यन्त्रकी प्रक्रिया स्थापित न करे तो सही कार्य कर ही नहीं सकता। अतः स्पष्ट हो जाता है कि नवीन आविष्कारों का करने वाला हमारा ज्ञान ही है। कहीं एकान्तमें बैठकर हम जो खयाली घोड़े दौड़ाते हैं उसका भी जनक हमारा ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञानसे वस्तुओंका पैदा होना तो दिखाई पड़ता है और सिद्ध भी हो जाता है परन्तु ज्ञान किसी दूसरेसे पैदा होता तो ऐसा दृष्टान्त भी नहीं मिलता और लोकमें दृश्य भी नहीं है।

अब आप विचार करें कि ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाय या अभिव्यक्ति मानी जाय। यदि ज्ञानको आप अभिव्यक्ति मानते हैं, प्रकट होना मानते हैं तो उत्पत्तिको छोड़कर अभिव्यक्तिवाद का भी कोई प्रमाण नहीं मिल पाता, तो उत्पत्तिवाद ही क्यों मान लिया जाय। इस पर प्रश्न उठता है कि मद्यके बिन्दुमें मादकता शक्ति है, तो वह मद्यके प्रत्येक अंशमें भी पैदा हुयी। यह अलग का विषय है कि अल्प-प्रमाणमें अल्प, अधिक प्रमाणमें अधिक, पर मादकता पूरे में है, एक देशमें नहीं।

इसी प्रकार शरीरमें यदि विचार किया जाय तो चैतन्यशक्ति शरीरके प्रत्येक अवयवमें विद्यमान है, तब यह कहना होगा कि शरीर सैकड़ों चेतन पदार्थोंका समूह है। उसका हाथ भी चेतन है, पैर भी चेतन है, धड़ भी चेतन है, आदि। संसारमें देखा जाता है कि बहुतसे चेतन सदा अनुकूल ही रहें, ऐसा नहीं होता। दश, बीस मनुष्य किसी काम में लगे हों तो उनमें मतभेद और फूट दोनों हो जाते हैं, अपना काम भी बिगाड़ लेते हैं। तब चेतन रूप शरीरके सभी अवयव सदा अनुकूल ही रहें, कभी वैमष्य न हो– यह सम्भव कैसे होगा। दिखाई इसके विपरीत पड़ता है, पर दिखाई पड़ता है कि शरीरके सभी अवयव सदा अनुकूल ही रहते हैं।

आँख को देखनेकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिए पैर सदैव तत्पर रहते हैं। पैरोंमें कोई काँटा या आघात न लगे अतः उन्हें मार्ग बतानेको आँख सदा तत्पर रहती है। पेटमें भोजन पहुँचानेको हाथ सदा काम करते रहते हैं और हाथोंमें काम करनेकी शक्ति हृदय द्वारा पहुँचती रहती हैं। इन घटनाओंसे तो यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक अवयव स्वतन्त्र चेतन नहीं है पर कोई एक चेतन है जिसको प्रसन्न करनेके लिए सभी अवयव सदैव तत्पर रहते हैं, उसीको हम आत्मा कहते हैं। वह ज्ञानरूप आत्मा नित्य है और कर्मानुसार भिन्न शरीरोंमें आता रहता है तथा पूर्व जन्मके संस्कार उसके साथ जुड़े रहते हैं। उन्हींके अनुसार बुद्धिकी तीव्रता या मंदता हुआ करती है। हमारा

यह कहना कदापि नहीं कि हमारे यहाँके खान-पान, रहन-सहनका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। उसका भी प्रभाव अवश्य पड़ता है। अल्पबुद्धि वाले भी अपने आचरण द्वारा बुद्धि वर्धन कर सकते हैं। विना निस्य, ज्ञानरूप, आत्माके स्वीकार किये मात्र रहन-सहन आचारसे काम नहीं चल सकता।

अतः व्यष्टि रूप १ आत्मा प्रति शरीरमें मान लिया गया, तो उनका समष्टि रूप एक महान् आत्मा भी मान लेना आवश्यक होगा। जहाँसे इन सबका उद्भव होता है और अन्तमें उसीमें लय या उसका सान्निध्य प्राप्त होता है, उसीको परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि नामोंसे भी अभिहित किया जाता है। यही हमारे वैदिक सिद्धान्त एवं उपनिषद्में स्वीकार किया गया है। जैसे हमारी आत्मा एक महान् आत्माका अंश है। उसी प्रकार हमारी आध्यात्मिक कलायें भी आधिदैविक, आधिभौतिक कलाओंके अंश हैं। इन अशोंके सम्बन्धसे एक ही मुख्य जीवात्माके व्यावहारिक रूप अनेक आत्मा प्रादूर्भूत होते हैं। उनके नाम बीजचित्ति, देवचित्ति, भूतचित्ति, प्रजा और चित्त है और जो व्यावहारिक कलाओंके रूप बनते है, उनके नाम हैं-शान्तात्मा, महात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा और प्राणात्मा। ये पाँचों जीवके तन्त्रका परिचालन करते हैं। इन्द्रियोंकी शक्ति देख-कर उनका परिचालन करने वाला प्राण है, उस प्राणसे परिच्छिन्न चैतन्यको प्राणात्मा कहते हैं।

इसी प्रकार मनसे परिच्छिन्न मन-सहित चैतन्यको प्रज्ञानात्मक कहते हैं। बुद्धि गर्भित या बुद्धि सहित चैतन्यको विज्ञानात्मा कहते हैं, उसके पर नियामक महत्वसे परिच्छिन्न चैतन्यको महानात्मा कहते हैं और इन सबमें अनुप्रविष्ट होकर इनको एक सूत्रमें बांधने वाले अन्त-र्यामी रूप चैतन्यको शान्तात्मा कहा जाता है। इसका निरूपण कठोप-निषद्में भलीभाँति किया गया है।

इन्द्रियाणिपराण्याहु हुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिबुं द्धेरात्मा महान् परः॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः ।।

अर्थात् इन्द्रियाँ उत्कृष्ट हैं, उनसे पर मन है। मनसे पर बुद्धि, बुद्धि से पर महानात्मा और महान् आत्मा से भी पर अव्यक्त-आत्मा और अव्यक्त आत्मा से पर पुरुष कहा जाता है। पुरुषसे पर और कोई दूसरा नहींहै। वहाँ प्रकर्ष की समाप्ति हो जाती है। उसी को परम गति तथा भगवत् सान्निध्य आदि रूपों में अभिधान किया जाता है।

हमारे वेदों उपनिषदोंमें असीम ज्ञान भरा हुआ है, जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन एवं दुःसाध्य है। इसके लिए तप तथा अनुष्ठान की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना साधनाके ज्ञान, आत्मा तथा उसका वैज्ञानिक रूप समझमें आना बहुत कठिन है। हमारे ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रतिभा के द्वारा इन मन्त्रोंके अर्थों का अनुसंधान किया था तभी इस गहन ज्ञानकी प्राप्ति करके संसारको चकित किया था। आधुनिक समयमें उपनिषद् के ज्ञान का पचाना बड़ा कठिनहै। आज साधारण पान और सुपारी को मानव नही छोड़ पा रहा है तो उपनिषद् ज्ञान को पचाने की साधनाके लिए संसारिक कामनाओं का त्याग करना बड़ा कठिन है। फिर भी प्रयत्न करना ही चाहिये और कर्म भी करना ही चाहिए।

यह ईशावास्योपनिषद्की हिन्दी व्याख्या आज पाठकोंके समक्ष आ रहीहै इसका सम्पूर्ण श्रेय श्रीरामजी को ही है, जो मेरे जैसे अकिञ्चन से यह कार्य सम्पादन करवा लिए। उज्जैनके कुम्भ परही यह भावना बनी थी कि इस वर्ष श्रीअवधमें चातुर्मास्य व्रतमें यह कार्य होना है। यदि रामजी क्षेम कुशल रक्खेंगे तो चरणों में सुमनाञ्जलि अवश्य प्रस्तुत करूँगा। उसी संकल्प एवं स्वामी श्रीरामकुमारदासजी महाराज की प्रेरणासे यह पूर्ण हुआ। वह महापुरुष हैं और उन्होंने यह प्रेरणा दी थी कि स्वामी जो यह ईशोपनिषद् की सरल हिन्दी व्याख्या हो जाती तो समाज पर बड़ा ही उपकार होता। उसी के अनुसार सन्त

महापुरुषों के कृपा प्रसाद से यह कार्य सम्पादनहो पाया अन्यथा मेरी बुद्धि इस लायक नही है कि वेदके, उपनिषद् के गहन-गम्भीर भावों को शब्दोंमें बाँध सकूँ ।

भक्त और ज्ञानीभी कर्मयोगी होते हैं। कुछ लोगोंकी मान्यता है कि मन का मल दोष दूर करके भक्तिसे विक्षेप दोष का निवारण करते हुये ज्ञान की शक्ति से अविद्या के आवरण को अलग कर जब मानव कृतकृत्य हो जाता है तब उसे कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती । ऐसे लोगों के मतमें कर्मयोग साधक की निम्नावस्था है । भक्ति मध्यम कक्षा है पर ऐसी बात है नहीं । जो यह मानते हैं कि ज्ञानी को कर्म करना शोभा नहीं देता । पर यदि विचार किया जाय तो ज्ञान प्राप्ति के बाद ही वास्तविक कर्म प्रारम्भ होता है । इससे पूर्व तो हम कर्म के नाम पर अकर्म ही करते हैं । कर्तव्य के नाम पर अकर्तव्य और परोपकार के नाम पर अहं की पुष्टि करते हैं । अत: कर्माचरणके लिए भी कर्तव्याकर्तव्य ज्ञानकी अत्यन्त आवश्यकता है । ऐसा विचार कर जो कर्म करता है वह वास्तवमें कर्मवीर है । भक्ति साधना द्वारा मानव जब अपनी इच्छाओं को भगवान्में मिला देता है तब अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों को केन्द्रित करके अपने आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर सृष्टिको भगवत् स्वरूप मानकर निरभिमान भावसे सब की सेवामें लगता है, यह आचरण स्वामी कर्मवीर में पूर्णतया दृश्य है । जिसके कर्मके पीछे आसक्ति का नाम नहीं रहता और उसमें कहीं भी स्वार्थकी गन्ध नहीं आती भक्ति से परिपूरित उसका हृदय प्राणिमात्रमें अपने परम प्यारे प्रभु का दर्शन करने लगता है । पीडित मानवता की आहों में वह अपने परम प्यारे आराध्य की आवाज सुनता है । दुखियों की सेवा ही उसकी ईश्वरीय आराधना होतीहै। अनाथोंके आँसू पोछना उसकी सच्ची अर्चना होती है । प्रभुमें भक्ति निष्ठा उसकी सच्ची वन्दना होती है । ज्ञान प्राप्ति के बाद यदि कर्म की इति श्री हो जाती तो गीताज्ञान श्रवण के बाद अर्जुन अन्याय और अनीति के दमन हेतु युद्ध जैसा कठोर

एवं क्रूर कर्म नहीं करते। यदि कर्म निम्न श्रेणीका साध्य होता तो तत्ववेत्ता योगेश्वर श्रीकृष्ण स्वयं पशुचारण, जूठी पत्तलें उठाने और रथ हाँकने जैसा कर्म नहीं करते। यदि कर्म घटिया साधन होता तो भक्ति भगीरथीमें डुबकी लगाने वाले रैदास जूते सीने का काम क्यों करते और परमज्ञानी कबीरदास चरखेके ताने-बाने में तत्वज्ञान की गुत्थियाँ कैसे सुलझाते। यदि कर्मका त्याग गोस्वामीजी महाराजको होता तो चौरासी लाख योनिको **'सीयराममयी'** देखने वाले भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी परम आत्मज्ञानी भक्त अन्तिम क्षण तक लोकमंगलके लिए साहित्य सृजनका कर्म क्यों करते।

निष्पृह ऋषि, मुनि, महात्मा जो द्वन्द्वातीत अवस्थामें पहुँचनेके बाद यदि लोकमंगलकी भावनासे शास्त्रोक्त कर्म नहीं करते। आज संसारको आदर्श प्रेरणा कहाँ से मिलती। यदि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामजी कर्मक्षेत्रमें अवतरित होकर संसारको आदर्श पितृसेवा, आदर्श मातृभक्ति, आदर्श प्रजापालन, आदर्श मातृप्रेम, आदर्श गुरुभक्ति की शिक्षा कैसे मिलती! भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अनाशक्ति योगका निरुपण किया। विना किसी प्रकारका अभिमान किये राजा जनक, मोरध्वज आदि ऋषि प्रवृत्ति प्रधान मार्गपर चलते हुए निरन्तर कर्म करते रहे। दूसरी ओर आत्मारामें रमण करने वाले जड़भरत, वामदेव, शुकदेव आदि मुनियोंने संन्यास धर्मका प्रशस्त मार्ग संसारके समक्ष रक्खा था। वस्तुतः कर्म, भक्ति और ज्ञान सभी एक-दूसरेके पूरक हैं।

भक्तिमार्गमें सरसता, विनम्रता, तन्मयता, तल्लीनता, भावुकता और ईश्वर परायणता रहती है, वे सभी उसके गुण हैं। जब कर्म छोड़कर उसमें प्रमाद, भाग्यवादिता और आत्महीनताके भाव आ जाते हैं, तो उसके दोष कहे जाते हैं। कर्मवादमें जो पुरुषार्थ-वृत्ति और प्रयत्नवाद की भावना है ये उसके गुण हैं तथा भक्तिके अभावमें जब कर्ममें अहंकार और सकामता आ जाती है, तो यह उसकी अपूर्णता हो जाती है। यही कारण है कि कोरे कर्मकाण्डी अपने निर्मम कर्म-

काण्ड और अतिशय स्वर्ग स्पृहासे वास्तविक धर्मसे दूर रह गये और धर्मका तात्त्विक रहस्य बना ही रह गया। अतः ईशोपनिषद्में कर्म, ज्ञान एवं उपासना तीनोंका संगम है और पूर्ण प्रेरणा भी विद्यमान है ऐसा मुझे जान पड़ा। मानव जीवनकी समग्र प्रेरणायें इन १८ मंत्रोंमें दृश्य हैं। प्रभु कृपासे यही साधकके जीवनमें उदय होकर उसका पाथेय बनकर आलोकित करनेकी क्षमता रखते हैं।

इस प्रकार उपनिषद्का रहस्य हमारे जीवनको सदासे एक प्रकाश प्रदान करता रहा। मैं सन्तोंके प्रसाद स्वरूप जो प्राप्त किया, वह श्रीसीतारामजीके चरणोंमें समर्पित करनेका प्रयास किया हूँ। उपनिषदोंके अध्ययनसे परिज्ञान होता है कि अक्षर पुरुषकी जो पाँच प्रकारकी कलायें बताई गयी हैं, उनमें प्रथम कला प्राण है और उसीके द्वारा ही ऋग्, यजु, साम तीन वैज्ञानिक वेदोंका प्रादुर्भाव होता है।

पहले केवल ब्रह्म अर्थात् वेद ही था, उसने विचार किया कि कोई नवीन वस्तु उत्पन्न की जाय, जिससे अकेला न रहूँ। इसी इच्छासे उसने तप और श्रम किया। स्मरण रहे कि ब्राह्मणोंमें जहाँ किसी नवीन वस्तु उत्पादनका प्रसङ्ग आता है, वहाँ सर्वत्र "**स ऐक्षत्, स तपोऽतप्यत्**" "**सोऽश्राम्यत्**" ये तीनों वाक्य प्रायः अवश्य लिखे जाते हैं। इसी तप और श्रमके कारण समाजको ब्राह्मणोंने एक नवीन देन सदैव दिया है। हमारे ऋषि कुलमें पहले तीन प्रकारकी वृत्तियाँ बताई जाती थीं। इच्छा, तप और मन प्राण, वाक् ये तीन तत्व सभीमें अनुप्रविष्ट हैं। उनमें मनकी वृत्तिका नाम, तप और वाक्का नाम श्रम है। इन्हीं वृत्तियोंको दिखाकर यह बतला दिया गया है कि किसी भी नयी वस्तुका उद्भव आत्मासे ही होता है और आत्माके सभी अंश अपनी-२ वृत्ति धारणकर नयी वस्तुके प्रादुर्भावमें लगते हैं। तप और श्रमसे उसके ललाटमें स्वेद उत्पन्न हुआ। यही प्राणसे आपकी उत्पत्तिका प्रमाण प्राप्त होता है उसीसे हमारा समग्र जीवन प्रमाणित होता है। यह सभी बातें उपनिषदोंमें भरे पड़े हुए हैं।

अतः उपनिषद् हमारा जीवन प्राण है। आज हमारे जीवनमें यदि उपनिषद्की गरिमा धारण हो जाये तो हम आत्मशक्तिसे परिपूर्ण हो जायेंगे। इसमें जो विद्वानों, महापुरुषों, साधक सन्तोंसे मैंने सुना है उसीको कहनेका प्रयास किया है। अतः इसमें जो ठीक है वह रामजी की निर्हेतुकी कृपा है और जो त्रुटि या स्खलन है वह मेरा दोष है, सुधीजन उसका संभार अवश्य करेंगे। आचार्य रामदेवदास शास्त्रीने जो इसमें शोधन कार्य किया है, वह धन्यवादके पात्र हैं। रामनाथ-दास एवं रमेशदास श्रीवैष्णवने भी प्रूफ लाने, देनेका जो श्रम किया है वह भी मेरे स्नेह भाजन ही हैं। शेष प्रेरक स्वामी रामकुमारदासजी महाराज कर्मवीरने जो समय-२ पर प्रोत्साहन देते रहे हैं उनका तो ऋणी हूँ। श्रीसीतारामजी के चरणोंमें यह सुमन समर्पित है। शेष भगवत्कृपा।

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्षाचार्य

शुभाषित

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
[ऋ० म० १०।सू० ६।मन्त्र १२]

यह मेरा हाथ भगवान् है। अर्थात् दुष्करसे दुष्कर कार्य करनेमें भी समर्थ है। यह मेरा हाथ भगवान्से भी श्रेष्ठ है। इन हाथोंसे कर्म करनेपर उसका फल भगवान्को भी देनेके लिए विवश होना पड़ता है। यह मेरा हाथ विश्वके सम्पूर्ण रोगोंकी औषधि और समस्त समस्याओंका समाधान है। यह मेरा हाथ जिसको स्पर्श कर देता है, वह परम मंगलमय शुभ एवं शिव हो जाता है। विश्वात्मा प्रभु श्रीराम-की सेवामें यह प्रसून समर्पित है।

जहाँ मस्तिष्क अकेला रहे और हृदयको दवा दे अथवा जहाँ मस्तिष्क की प्रबलता हो वहाँ विज्ञान पैदा होता है और जहाँ मस्तिष्क के ऊपर हृदय अपनी समस्त कोमलताओं के साथ स्पन्दित होता है, वहाँ काव्य, कला, संगीत उत्पन्न होता है और जहाँ दोनोंका समन्वय होता है, वहीं धर्मके झरने फूट पड़ते हैं।

❀ श्रीरामोविजयतेतराम् ❀

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्य कृत

हरिभाष्य

ईशावास्योपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

श्यामं तत्त्वं किमपि महसां राशिरोजो महीयो,
नित्यं स्तुत्यं जनिविरहितं सर्व विद्यैकवेद्यम् ।
दिव्यं हृद्यं हृदयसदने ध्यातमन्तर्निलीनं,
तान्तं वोन्तः कुहकि कितवं वर्त्म शान्तं नयेत् ॥ १ ॥

याभ्यां हीनं त्यजति नितरां स्वस्वरूपं प्रसिद्धं,
ब्रह्माद्यातं जगति सततं मुक्तये मुक्तिकामैः ।
नाद्यैः कालैर्मनसि नितरां ज्ञानसंनुत्तये वा,
ते मां नित्यं परिरमयतां रेतिमेत्यक्षरे द्वे ॥ २ ॥

निःश्रेयसाय सरसाय रसाय राय,
रामाय विश्वरमणाय रणागमाय ।
सीताप्रियाय च तदीयमनोहराय,
हाराय सर्वमहसां च नमोऽस्तु नित्यम् ॥ ३ ॥

क्व श्री—श्रुतिक्षितिजवर्णक मूढभावो,
विद्वत्प्रकाण्डकमनीयमनीषयाप्यः ।
क्वेयं ममास्ति विभवा मतिरप्रशस्या,
हस्ताश्रयं विदधतां विबुधा अमुष्यै ॥ ४ ॥

पूर्वाचार्यान्नमस्कृत्य भक्तिज्ञानार्थं सिद्धये ।
ईशोपनिषत्तत्वस्य हरिभाष्यं करोम्यहम् ॥ ५ ॥

दीर्घतमा ऋषिः, आत्मा देवता, अनुष्टुप्छन्दः, धैवतः स्वरः।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेनं त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १॥
(ईश० १)

अन्वयाथ—

जगत्याम्=जगत् में, अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि में **यत्किञ्च**=जो कुछ भी, **जगत्**=चराचर पदार्थ हैं, इदं सर्वम्=यह सब ईशावास्यम्-ईश्वर से आच्छादन करने योग्य (व्याप्त होने योग्य) है। अर्थात् परमात्मा से आच्छादित एवं अनुस्यूत है। तेन त्येक्तेन=उसका त्याग पूर्वक समर्पित भाव से अर्थात् अनाशक्ति भाव से, **भुञ्जीथाः**=उपभोग करो। **कस्यस्विद्धनम्**=किसी के धन को, स्वत्व को अथवा वस्तु को, मा गृधः=मत छीनो तथा उसकी अभिलाषा, आकांक्षा अथवा लिप्सा मत करो।

भाष्य—

मा गृधः= 'गृधू अभिकांक्षायाम्' धातु से 'गृधः' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य है कि किसी के वैभव को देखकर लालच न करो। धनं कस्यस्वित्? यह समृद्धि किसकी है? अर्थात् किसी की नहींहै। **सम्पति सब रघुपति कै आही**। देखो! कितने बलवान्, शक्तिमान् इस संसार में आये पर मेरा-मेरा कहते और इसका उपभोग करते हुये चले गये, परन्तु इस संसार की समृद्धि वैसे की वैसी बनी हुई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस सभी समृद्धि का वास्तविक प्रभु मात्र परमात्मा है। इस दृश्यमान जगत् का स्वामी ईश्वर है।

जगत् शब्द **गम्लृ गतौ** धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ होता है परिवर्तित होना। गच्छतीति "जगत्" जो शाश्वत गतिमान् है उसे जगत् कहते हैं। अतः समग्र ब्रह्माण्ड गतिशील होने के कारण जगत् है। इस प्रसङ्ग में जगत् शब्द का तात्पर्य संसार में विद्यमान समस्त चराचर पदार्थ ग्रहण करना चाहिये।

उपर्युक्त मन्त्र में इच्छा के अर्थ में गृध शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका भाव इस प्रकार है—'गृध्रः' अर्थात् जैसे गिद्ध लोभ से प्रभावित होकर छीना-झपटी करता है, उसी प्रकार हम किसी के धन वैभव अथवा किसी अन्य वस्तु को लालच एवं अनधिकार चेष्टा द्वारा छीनने का प्रयास न करें, क्योंकि इस संसार का समग्र वैभव किसी का नहीं है। ये समस्त सांसारिक पदार्थ मात्र ईश्वर के हैं। हमें उसमें अनासक्ति पूर्वक मात्र उपयोग करने का अधिकार मिला है।

वेदों में दूसरे के वैभव का आहरण करने वाली प्रवृत्ति को "गृध्रवृति" के नाम से कहा गया है। गृध धातु से ही गृध्र शब्द बनता है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्मतत्व की उत्कृष्ट शिक्षा बतायी गयी है। इसमें एक वचन का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य है–ईश्वर एक है और वह सम्पूर्ण सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। इस मन्त्र में विशिष्टाद्वैताभिमत तत्वत्रय का प्रतिपादन किया गया है। इदं सर्वम्=से अर्थात् प्रकृति का प्रतिपादन किया गया है तथा भुञ्जीथाः और मा गृधः=इस दो क्रियापद से क्रिया का कर्त्ता का जीव का प्रतिपादन किया गया है। ईशा इस शब्द से ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार का परम पिता परमात्मा ही हमारा एक मात्र पूज्य तथा इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं है।

ईश्वर की सर्व व्यापकता तथा उसके द्वारा ही इस समस्त संसार के आवृत किये जाने का प्रमाण वेदोंमें स्थान-स्थान पर वर्णित है। पुरुष सूक्त के मन्त्रों में वह द्रष्टव्य है, जो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतःस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(यजु० ३१/१)

वह परम पुरुष हजारों शिर, हजारों नेत्र तथा हजारों पैर वाला है तथा वह इस समग्र भूमि को, ब्रह्माण्ड को सब ओर से घेरकर

दश अंगुल के आकार वाले हृदय में अथवा ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर भी स्थित है।

पुरुष शब्द की निरुक्ति इस प्रकार से निष्पन्न होती है—पुरि ब्रह्माण्डे शरीरे वा शेते इति 'पुरुषः'।

ब्रह्माण्ड अथवा शरीर रूपी पुर या नगर में जो शयन करता है वह आत्मा या रामजी पुरुष कहे जाते हैं। क्योंकि **रमन्तेयोगिनो यस्मिन्**, इस जगत् में जो पूर्ण है अथवा जिसने अपनी सर्व व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा है उसे पुरुष कहते हैं।

ईश्वर में सभी प्राणियों के असंख्य शिर, हाथ, पैर स्थित है, अतः उसको 'सहस्रशीर्षा' सहस्राक्ष, सहस्रपात् कहते हैं। 'दशाङ्गुल' शब्द हृदय, ब्रह्माण्ड अथवा शरीर को कहा जाता है। अङ्गुलि शब्द अङ्ग अथवा शरीर के अवयवों का वाचक है। पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म तत्व मिलकर जगत् के १० अवयव या अङ्ग होते हैं। इसीलिए ब्रह्माण्ड को दशांगुल कहा जाता है। पञ्च प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा जीवात्मा ये सब मिलकर शरीर के १० अवयव होते हैं। अतः शरीर दशांगुल कहा जाता है।

यह समग्र संसार ब्रह्म का स्वरूप कहा गया गया है। **जगत् सर्वं शरीरं ते**, ईश्वर प्रत्येक कण-कण एवं क्षण-क्षण में विद्यमान है और सबका नियमन भी वही करता है। अतः सर्व नियन्ता के रूप में उसका वर्णन वेदों में किया गया है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। गीता॥

वह ईश्वर सबके हृदय में अवस्थित हो अपनी अचिन्त्य शक्ति माया द्वारा सभी प्राणियों को कठपुतली की भाँति ग्रसित किये रहता है।

पुरुषएवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ यजु० ३१।२

अर्थात्—**पुरुष एव इदं सर्वम्**, यह वाक्य अत्यन्त महत्व स्थापित करता है। इसका अर्थ है कि भूत भविष्य और वर्तमान

में जो था, जो होगा तथा जो कुछ विद्यमान है वह सब वही पुरुष ही है। वही पुरुष इस जीवात्मा का भी स्वामी है। जो अन्न के साहचर्य से इस शरीर में अतिरोहित होता है, बढ़ता या उन्नति करता है। **उत अमृतत्वस्य ईश्वरः** वह उस अमृतत्व का भी ईश्वर है जो अन्य के साथ रहता है। परमात्मा उस जीवात्मा का स्वामी है जो अपने से भिन्न मरणधर्मा शरीर के साथ रहता है। यजुर्वेद में इसका पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। (अन्नेन अतिरोहति) अन्न के साथ शरीर बढ़ता रहता है और अन्न के द्वारा ही यह शरीर पोषित है। उसी से शरीर का संवर्द्धन होता है। अतः अन्न के साथ आत्मा के प्रोन्नति की बात कही गयी है। (यद् भूतं यत् च भाव्यम्) भूत भविष्य एवं वर्तमान में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है (पुरुषः एव इदं सर्वम्) वह सब मात्र पुरुष ही है। (सर्वाः भूतानि अस्य पादः) प्राणि मात्र उस पुरुष का १ पाद या १ अंश हैं। यह समस्त चराचर सृष्टि उसके केवल एक पाद, १ अंश से उत्पन्न हुई है। (अस्य त्रिपाद् दिवि अमृतम्) इसके तीन पाद द्यु लोकमें अपने अमृत रूपमें स्थित हैं। जिसे त्रिपाद्विभूति कहते हैं। मुण्डकोपनिषद् में इसका और स्पष्ट रूप में वर्णन किया गया है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेद विश्वमिदं वरिष्ठम्॥
(मुण्डक २/२/११)

अर्थ-(इदं अमृतं ब्रह्म एव) यह सभी पदार्थ अमृत ब्रह्म ही है। (पुरस्ताद् ब्रह्म) समक्ष ब्रह्म (पश्चाद् ब्रह्म) पीछे ब्रह्म (दक्षिणतः) दाँयी ओर (च उत्तरेण) और बाँयी ओर (अधः च ऊर्ध्वं च) नीचे ऊपर भी ब्रह्म ही (प्रसृतम्) फैला हुआ है। (इदं विश्वं) यह समस्त विश्व (इद वरिष्ठम् ब्रह्म एव) यह श्रेष्ठ ब्रह्म ही है। इस प्रकार ऋग्, यजुः अथर्वादि वेदों में सर्वत्र ब्रह्म की महिमा का वर्णन किया गया है कि सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता है अन्य की नहीं।

एतावानस्यमहिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥(यजु० ३१/३)
(ऋग्० १०/९०/३)

एतावान् अस्य महिमा=यह समस्त ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है। इस संसार के दर्शन से मात्र उसकी महिमा का बोध होता है। वह पुरुष तो इससे अधिक महान और श्रेष्ठ है। समस्त जड़ चेतन जगत् केवल उसका १ पाद अथवा एक अंश है। उसके तीन पाद द्युलोक में अपने अमृत स्वरूप में स्थित हैं। उस महान् पुरुष के मात्र एक अन्श से यह समस्त सांसारिक सृष्टि एवं पदार्थ परिवर्तित होते रहते हैं। परन्तु वह पूर्ण पुरुष अपने स्वरूप में सदैव अविकारी (अपरिवर्तनीय) रूपमें ध्रुव होकर स्थिर रहता है-**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते**-उसकी सर्व व्यापकता का वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् में किया गया है—

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
(श्वेत० ४/१४)

कलिलस्यमध्ये=संसार के मध्य में स्थित अर्थात् उसमें ओत-प्रोत सूक्ष्मातिसूक्ष्म विविध रूप वाले इस विश्व को उत्पन्न करने वाले अथवा आच्छादित कर्त्ता परममुद मंगलकारी प्रभु को जानकर जीव परम शान्ति अथवा भक्ति को प्राप्त कर लेता है--

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ गीता १३/१३

वह परम पुरुष संसार में सभी ओर से हाथ, पैर, शिर, नेत्र मुख, कान वाला है। समग्र विश्व को सब ओर से परिवेष्टित करके स्वयं स्थिर है। उस ईश्वर का सर्व रूपत्व, सर्व व्यापकत्व, सर्वज्ञत्व एवं सर्वस्व धारण शक्ति अपूर्व संयोग है।

इस विषय का सम्यक् प्रतिपादन वृहदारण्यकोपनिषद् में किया गया है—

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षीभूत्वा पुरः पुरुष आविशद्॥
स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैतेन।
किंचनानावृतं नैतेन किंचनासंवृतम्॥ बृहद० २/५/१८

द्विपदः पुरः चक्रे=परमात्मा ने दो पैर वाले शरीर बनाये, **चतुष्पदः पुरः चक्रे**=चार पैर वाले शरीर बनाये। **स पुरुषः पक्षीभूत्वा**= वह परम पुरुष व्यापक होकर **पुरः पुरुषः आविशत्**= प्रत्येक शरीर में पुरुष रूपसे प्रविष्ट हो गया। **स वै अयं पुरुषः**=निश्चय ही वह पुरुष **सर्वासु पूर्षु**=सभी शरीरों में,(पुरिशयः) पुरिशय अर्थात् व्याप्त या स्थित है। **पुरि शेते इति पुरिशयः सन् यः पुरुष उच्यते** जो शरीर रूपी पुरी (नगरी) में शयन करता है वह पुरिमें शयन करने वाला पुरुष कहा जाता है।

एतेन न किञ्चन अनावृतम्=इससे कुछ भी अनावृत नहीं है। **न एतेन किञ्चन असंवृतम्**=और न इससे कुछ भी अव्याप्त है अर्थात् समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाला यह परमात्मा समस्त चराचर सृष्टि को चारों ओरसे आच्छादित किये हुए हैं और अन्तर्यामी रूपसे सबमें व्याप्त है।

"पुरुषः"

पुरुष शब्द का निर्वचन निरुक्तमें विविध प्रकार से किया गया है—**पुरुषः, पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य**॥ निरुक्त २/१/३

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
(श्वेत० ३/९)

(क) पुरि सीदति इति पुरिषादः। जीवात्मा शरीर रूपी पुरी में निवास करता है, अतः पुरिषाद अथवा पुरिष या पुरुष कहा जाताहै।

(ख) पुरि शेते इति पुरुषः=शरीर रूपी पुरी में शयन करने के कारण आत्मा तथा परमात्मा को पुरिशय अथवा पुरुष कहा जाता है।

(ग) पूरयति अन्तःकरणं स्नेहेन इति पुरुषः श्रीरामः निगद्यते अर्थात् अन्तर्यामी रूपसे सम्पूर्ण संसार को प्रेम से परिपूर्ण कर देने वाले भगवान् श्रीराम ही पुरुष के रूपमें कहे जाते हैं। पूरणार्थक पृधातु से भी पुरुष शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका तात्पर्य है- पालन

लालन की पूर्ति करना तथा व्यापक भी अर्थ होता है। उपर्युक्त धात्वर्थ से भी राम विशिष्ट तत्व की ही सिद्धि होती है। क्योंकि पालन का कार्य रामजी ने ही सम्पादन किया है।

इस शब्द की पुष्टिमें यास्काचार्यजी ने श्वेताश्वतर उपनिषद् का भी प्रमाण दिया है। जिसका अर्थ इस प्रकार है।

यस्मात् परम् अपरं किञ्चित् न अस्ति=जिससे अधिक श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। यस्मात् न अणीयः न ज्यायः किञ्चित् अस्ति= जिससे अधिक सूक्ष्म अथवा स्थूल कुछ भी नहीं है। **एकः दिवि वृक्ष इव स्तब्धः तिष्ठति**=जो एक मात्र है तथा स्व प्रकाश रूप में वृक्ष की भाँति अचल होकर स्थिर है। तेन पुरुषेण इद सर्व पूर्णम्=परम पुरुष द्वारा यह समग्र संसार पूर्ण या व्याप्त है।

२-वृहदारण्यक उपनिषद्में पुरुष शब्द का निर्वचन इस प्रकार से किया गया है—

स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत्तस्मात् पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद।। वृहद्० १।४।१

मन्त्रार्थ-यतः सः अस्मात् सर्वस्मात् पूर्वः=सर्वान् पाप्मन औषत् क्योंकि उसने सर्व प्रथम किये गये समस्त पापों को जला दिया हैं। पुरः उष् पुरुष भी होता है। य एवं वेद=जो ऐसा जानता है। ह वै= निश्चय ही, **स तम् ओषति**=वह उसको जला देता है। **यः अस्मात् पूर्वः बुभूषति**=जो इससे श्रेष्ठ होना चाहता है। अर्थात् पूर्व पापों को जलाने वाला पुरुष कहा जाता है। अन्तिम वाक्य प्रशंसामें कहा गया है। जिसका अर्थ है अपने पूर्वमें किये गये पापों को जो जला दे वह सर्व श्रेष्ठ पुरुष है। उससे श्रेष्ठ कोई नहीं हो सकता है।

३-अग्रगमनार्थक पुरधातु से कुषन् प्रत्यय करने पर पुरुष शब्द की निष्पत्ति होती है। पुरति उन्नति पथि गच्छति गमयति वा इति पुरुषः-जो उन्नति मार्ग पर चलकर लोगों को प्रेरणा देता है वह पुरुष मात्र श्रीरामावतार ही है। अपने चरित्र के द्वारा जो समग्र ससार को शिक्षा दिये हैं। क्योंकि पुरुष का वह पुरुषार्थ प्रशंसाके योग्य होताहै।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः—प्रस्तुत मन्त्र भाग में समग्र संसारके प्राणि मात्र के लिए बहुत बड़ी शिक्षा दी गयी है और स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि इस संसार में सबसे बड़ा दुःख आसक्ति ही है। अतः किसी भी वस्तु के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आसक्ति होने पर उसे प्राप्त करने के सभी उपाय करने पड़ते हैं और उनकी पूर्ति न होने पर दुख अथवा अपराध हिन्सा आदि पाप भी अवश्य होते हैं। अतः किसी के ऐश्वर्य को देखकर लालच नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् श्रीरामजी से अभिव्याप्त है। "ईशते= अनुशास्ति इति ईशः श्रीरामः, **तेन वास्यम् व्याप्यम्**"। "**मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**" संसार की सभी वस्तुएँ परमात्मा की ही हैं। वे मात्र मानव के त्याग भाव से ही भोग्य हैं।

त्याग भाव से भोग का तात्पर्य है कि जीवन के भोगों के प्रति मनोरथ कम किये जायें। साथ ही मनुष्य अपने जीवन से कर्तृत्वाभिमान का सर्वथा त्याग करे। संसार के भोगों को अपना समझकर उपभोग न करे। वह यह समझे कि ये समस्त पदार्थ परमात्मा के हैं मैं तो मात्र एक उनका उपकरण हूं। ऐसा करने से जीव की आसक्ति कम होगी एवं भोग पदार्थ छूटने पर दुःख से वह नहीं बँधेगा। इस प्रकार उसका मंगल ही होगा। यद्यपि जीवन की यह बहुत बड़ी साधना है। कहना सरल है करना अत्यन्त दुष्कर है,परन्तु जिस किसी के जीवन में यह बात आ जाये तो उसका इस जन्म मृत्यु रूप संसार-सागर से बेड़ा पार है।

"**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" का महापुरुषों ने और भी भाव लिखे हैं। भगवत् कृपा से जो प्राप्त हो गया है अथवा होता है उतने में संतोष करो। जीवन यापन मात्र उपयोगि वस्तुओं को ग्रहण कर शेष का दान कर दो, क्योंकि इन भोगों से तृप्ति कभी भी नहीं होती है। अधिक रहने पर प्रपञ्च ही जीवन में अधिक आयेगा। अतः भोगों का उपभोग त्यागपूर्वक होना चाहिये। हम उतना ही आहार लें जितने में भगवद्भजन का सम्पादन हो सके अधिक नहीं।

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" का तात्पर्य यह भी है कि दूसरे का घर उजाड़कर अपना घर बसाना, अथवा किसी का गला काटकर स्वयं भोगों का उपभोग करना न्यायोचित कदापि नहीं है। अथवा दान पूर्वक उपभोग करना उचित कहा गया है। ऋग्वेद में इसका उत्कृष्ट वर्णन किया गया है।

उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते।

ऋग्० १०।११७।१

अर्थात् दान देने से कभी भी अभाव नहीं होता अपितु और अधिक बढ़ता ही है। दान आदि न करने से सम्पत्ति क्षीणता को प्राप्त होती रहती है। इस मन्त्र द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद भगवान् ने मानव मात्र को पलायनवादी नहीं, कर्मठता की ओर प्रेरित किया है। संसार से विमुख हो जाना कर्म से विमुख होना है। संसार की सभी वस्तुओं का न्यायोचित उपभोग त्याग भाव से करने का उपदेश किया गया है। चिदचिदीश्वर रूप जगत् में धर्म कर्म परायण होकर, अनासक्ति पूर्वक उपलब्ध वस्तुओं का उपयोग करे एवं अपने को समृद्धशाली बनावे वह धर्म है।

"यतोऽभ्युदयेनिश्रेयःसिद्धिः स धर्मः"

जिससे मानव जीवन का सर्वतोमुखी विकास या कल्याण, सफलता, वैभव तथा मोक्ष प्राप्त हो वह धर्म कहा गया है। हमारा वैदिक वाङ्मय कभी भी पलायनवादी नहीं रहा है, प्रत्युत् जीवन की वास्तविकताओं तथा आधार भूत आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाला सच्चा मार्ग है।

मा गृधः कस्यस्विद् धनम्—उपनिषद् का यह मन्त्र बड़ा सहेतुक है। आज का समय बड़ा भयावह है। एक दूसरे का धन गौरव मनुष्य देख नहीं सकता है। उसके मनमें एक प्रकार का उदवेग या ईर्ष्या होने लगती है। उससे लेने के लिए या छीनने के लिए मनुष्य व्यग्र हो जाता है। श्रुति भगवती उसका अवरोध करती है कि ऐसा किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिये। मा गृधः=अधिक की इच्छा न

करो। "स्विदिति वितर्के। धनं कस्य? न कस्यापि। यदिधनं कस्यापि न भवति। सर्वं त्यत्क्वैवेतोगमनं भवति जीवानां तर्हि गर्धाया नास्ति प्रयोजनम्" (भगवदाचार्य यजुर्वेद भाष्य)

इस संसार की समृद्धि किसी की भी नहीं है। जब यह किसी की नहीं है, तो इसका उपभोग त्याग पूर्वक ही होना चाहिये। जब त्याग पूर्वक समृद्धि का उपभोग होगा तो अभिकांक्षा हड़पने की नहीं होगी। अस्तु हम यदि वेद के अनुसार दूसरे की वस्तु की अभिलाषा न करें तो परस्पर टकराव नहीं होगा और निरर्थक संघर्ष भी नहीं होगा। यह मात्र व्यक्ति पर ही लागू नहीं होता,बल्कि यह तो सम्पूर्ण देश के लिए, समाज के लिए भी पूर्ण लागू होता है। इस प्रकार इस मन्त्र में जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि एवं प्रेमपूर्वक जीने की अद्भुत कला निहित हैं, जो मानव जीवन को उजागर करती है। यदि मानव के जीवन में सात्विक गुणों का आचरण विद्यमान है जैसे दया, करुणा, प्रेम आदि, अन्याय या बलपूर्वक किसी दूसरे की वस्तु या ऐश्वर्य से आकृष्ट होकर उसको छीनने-झपटने में अपने अधिकार में लेने की अभिलाषा नहीं करते तो मुझे बहुत बड़ी आत्मशान्ति का अनुभव होताहै।

अतः मानव को यह सदैव विचार करना चाहिए कि मेरे साथ अनाचरण होने पर जैसे मुझे कष्ट होता है, उसी प्रकार मैं यदि दूसरों के साथ कोई अनाचरण करता हूं तो उसी प्रकार वह भी क्षुभित होता होगा, यह विचार करना चाहिये।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनःप्रतिकूलानि परेषान्न समाचरेत्॥ महाभारत

धर्माचरण श्रवणकर धारण भी करो। जो आचरण अपने को अरुचिकर हो वह दूसरे के साथ भी मत करो। जो अन्याय पूर्वक सम्पत्ति अर्जित करने में दूसरों को दुःख देने में, उनका शोषण करने में संलग्न रहते हैं, उनके लिए गीता भगवती अनुग्रह करती है-

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ (गी० १६।१०)

अर्थात् दम्भ, अहंकार एवं मद से संयुक्त जन कभी भी न शान्त होने वाली कामनाओं का आश्रय ग्रहणकर विमोह वश मिथ्या सिद्धान्तों को अपनाकर दूषित आचरणों से प्रभावित होकर संसारमें व्यवहार करते रहते हैं तथा असत् पथगामी भी वही लोग होते हैं एवं मरण पर्यन्त रहने वाली चिन्ताओं को ही स्थान देकर काम जनित सांसारिक विषयोंमें लिप्त लोग उसी को शाश्वत आनन्द मान बैठते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोग परमा एतावदिति निश्चिताः॥ गी० १६।११

जीवन की अनेक आशाओं के पाँस से बँधे हुए प्राणी अनेक काम, क्रोध आदि से ग्रस्त अपनी कामनाओं की पूर्तिमें संलग्न अनेक अधर्म एवं अन्यायसे उपार्जित संपत्ति को संचित करने की चेष्टा सदैव किया करते हैं।

जीव का लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है वह कभी भी तृप्त नहीं होता है और जब तक मनमें संतोष नहीं आता तब तक मन सचय के लिए भाग दौड़ करता रहता है, तभी तक वह अशान्त एवं अपूर्णता का दर्शन करता रहता है। संतोष आने पर शान्ति मिल जाती है। गीता भगवती अनुग्रह करती हैं—

इदमद्यमया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ गीता १६।१३

मेरे द्वारा यह प्राप्त कर लिया गया, इस अभिलाषा को कल पूर्ण कर लूँगा। मेरे पास इतना धन है, आगे और इतना अधिक हो जायगा। यह शत्रु मैं मार दिया और कल अन्य दूसरों को मारूँगा। मैं स्वयं ईश्वर हूं। मेरे ही भोग के लिए संसारमें यह सब कुछ है। मैं ही सभी सिद्धियों का धनी हूं। मैं ही बलवान हूं तथा ससार में मेरे बराबर सुखी अन्य कोई नहीं है।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः॥ गीता १६।१५

अतः यह गीता मन्त्र परम विचारणीय है कि हमारा जीवन किस प्रकार का हो और कैसा होना चाहिये, साधारण्येनैव भगवती सर्वेषां हितं कामयमाना श्रुतिः सर्वानेवोपदिशति मुमुक्ष्वपेक्षयाबुभुक्षुभ्य एवायमुपदेशो विशेषतो हितकरः । (स्वामी भगवदाचार्य ई०उ०भा०) साधारण रूपमें श्रुति भगवती सभी के कल्याण के लिये उपदेश करती है। मुमुक्षु की अपेक्षा बुभुक्षु के लिए यह उपदेश विशेष हितकर है।

गीता आदि का यही तात्पर्य है कि हमारे मनमें सभी प्राणियों के प्रति दया, प्रेम होना चाहिये। यह संसार की समृद्धि किसी की नहीं है, इस सब का अध्यक्ष स्वय ईश्वर है, अतः इसका उपभोग अनासक्तिपूर्वक होना चाहिए। यदि मेरे मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि से उत्पन्न अन्याय और लालच द्वारा धन संचय ही कार्य रहा तो हमारा मंगल नहीं हो सकता है क्योंकि काम लोलुप इन्द्रियाँ कभी भी संतुष्ट नहीं हो सकती हैं।

अतः हमें किसी असहाय व्यक्तियों का शोषण किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिए। हमें अपने जीवन में मूलभूत परिवर्तन करके अपने जीवन को वैदिक शिक्षा के अनुरूप निर्माण करने का प्रयत्न सदैव करते रहना चाहिए, जिसके द्वारा हमारा जीवन सुख एवं समृद्धि-मय बन सके। हृदय में जब सभी के प्रति मंगल कामनायें होंगी तो हमारा जीवन दूसरे का दुःख दूर करने के लिए प्रयत्नशील होगा।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अर्थात् मैं न राज्य चाहता हूं, न स्वर्ग और न मोक्ष। मैं मात्र संतप्त प्राणियों के दुःख के नाश की कामना करता हूं। सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सब लोग मंगल का दर्शन करें, सभी सुख पूर्वक जीवन यापन करें, यही हमारे वेदों की सदैव शुभकामना है।

वैज्ञानिक दृष्टिसे भी विचार करने पर वेद मन्त्रों का तात्पर्य पूर्ण सहेतुक है। आज बहुत लोगों का विचार है कि वेद तो अनेकेश्वर वादी हैं। वेदों ने विभिन्न देवताओं को ईश्वर की मान्यता दी है

क्योंकि वेदोंमें भिन्न-भिन्न देवी देवताओं की स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं। परमात्म--विषयक ज्ञान या उपासना की चर्चा तो कहीं भी नहीं की गयी, पर यदि शान्त मस्तिष्क से विचार किया जाये तो यह बात पूर्ण रूपसे निराधार है। वेदोंमें ऐसे अनेक मन्त्र विद्यमान हैं, जो एक ही ईश्वर का प्रतिपादन करते है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋग्०म० १।अ०२२।१६४।३९)

अर्थात् जो ऋचाके प्रतिपाद्य अक्षर परमाकाश रूप परब्रह्म, जिसमें समस्त देवता निवास करते हैं, को नहीं जानता, वह वेद की ऋचा से क्या कर सकेगा ? उसका वैदिक ज्ञान निस्सार है। जो उसको जानता है वह अमृत अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है। वेदोंमें परमात्मा परब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं माना जाता है। परब्रह्म को मन द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता यह सत्य है, पर विचार करें तो सम्पूर्ण जगत् भी तो परब्रह्म से भिन्न नहीं है ! मन न लगाना भी परमात्मा में मन लगाना ही कहा जायेगा, क्योंकि कोई भी पदार्थ परब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः प्रथम मन्त्रमें **ईशावास्यमिदं सर्वं** कहा गया हैं। इसी आशय से वेदोंमें विभिन्न देवी देवताओं की उपासना वेदोंमें की गयी हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—सियाराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।। भक्तों की आँखों में सर्वत्र उनके भगवान् ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनसे अतिरिक्त संसारमें कुछ भी नहीं है। अतः चेतन भक्त ही नहीं जड़ वृक्ष भी सभी के प्रति ईश्वर बुद्धि होकर मस्तक झुकाते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि मात्र भारतीय संस्कृतिके अनुयायी ही नहीं, पर्वत, वृक्ष जड़ पदार्थोंको मस्तक नहीं झुकाते, वरन् उसमें विराजमान ईश्वरीय सत्ता को ही शिर झुकाते हैं। वेदोंमें जो भिन्न-भिन्न देवताओं की या उलूखल, मूसल आदि की स्तुति की है वह सम्पूर्ण स्तुति उस परब्रह्म सत्ता की ही है, यह निरुक्त आदि में पूर्ण स्पष्ट कर दिया

गया है। उपासना और भक्ति का भी यही रहस्य है। श्रीराम, कृष्ण अवतारों को हम इसी रूपमें स्वीकार करते हैं। **ईशावास्यमिदं** का यही तात्पर्य है। यह जगत् भगवत् परक है और उसके अन्तर्गत प्राणि मात्र भक्तपरक है। भगवत् स्वरूप का दर्शन होने पर छीना, झपटी, और अन्यायपूर्वक अभिकांक्षा होना सर्वथा निन्दनीय है।

जगद् व्यापी विराट् रूप को ही भागवत आदि में आविर्भाव के रूपमें चित्रित किया गयाहै–'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्' भगवान् स्वधाम से ही जगत्में अवतरित होते हैं। वह चित्, अचित् और ईश्वर इस तत्वत्रय रूपमें ही सर्वत्र रहता है।

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृत सत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ ईश० उ० २

अन्वयार्थ

(इह कर्माणि कुर्वन् एव) इस संसारमें वैदिककर्मों का सम्पादन करता हुआ ही, (शतम् समाः जिजीविषेत,) सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे, (एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते) इस प्रकार तुम पुरुष में कर्म लिप्त नहीं होते। (इतः अन्यथा न अस्ति) इससे पृथक् अथवा अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है।

भाष्य

उपर्युक्त मन्त्र में संसार के प्रत्येक जीव को कर्म करने की शिक्षा दी गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित जो विशिष्ट कर्मयोग की शिक्षा उपलब्ध है वही अनासक्ति योग का मूलरूप इस उपनिषद के मन्त्रमें दर्शनीय है। वेद भगवान् का यह परम अनुग्रह एवं आदेश है कि मानव को कभी भी निष्क्रिय नहीं होना चाहिये, उसे कर्म अवश्य करना चाहिये। जो पुरुषार्थी नहीं है उसका जीवन मरण दोनों

समान है। इससे बड़ा कल्याण मानव का और कोई हो ही नहीं सकता। सर्व प्रथम पुरुषार्थी होना आवश्यक है। पीछे जो मन्त्र आया है जिसमें "**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" पदों की चर्चा आई है उसका सम्यक् पोषण इस मन्त्रमें किया गया है कि कर्म तो किया जाय पर उसमें आसक्ति कुछ भी न रहे। संसारमें कर्मों का विभाग किया गया हैं। दो प्रकार के कर्मों का निरूपण किया गया है, पर आसक्ति का त्याग दोनोंमें कहा गया है।

कर्म विभाग दो रूपों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहला सकाम कर्म और दूसरा निष्काम कर्म। सकाम कर्म का तात्पर्य है, जिसमें फल की इच्छा निहित है। प्रायः संसार में सकाम कर्म अधिक अंशमें दृश्य है। निष्काम कर्म वह है जिसमें फल की कोई इच्छा नहीं रहती, वे ईश्वर प्राप्ति परक होते हैं। निष्काम कर्मयोग की चर्चा गीता में पूर्ण रूपसे की गयी है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि।। गीता २।४७

अर्थात् कर्म करनेमें ही तुम्हारा पूर्ण अधिकार है,फलमें कभी नहीं। कर्मों के फलों की कामना करने वाले न बनो, अकर्मणि अर्थात् कर्म न करने में तुम्हारी प्रीति कभी भी न हो, सदैव कर्म करते रहो, कभी अकर्मण्य न हो। किन्तु निष्काम कर्म करना सामान्य लोगों के वश की बात नहीं है, फिर आज के भौतिकवाद के धरातल पर तो और भी कठिन है। यह निष्काम कर्मयोग तो बड़े-बड़े सन्यासी योगी लोगों के लिए ही साध्य हो सकता है। सभी इसका निर्वाह करलें, यह कठिन है। अतः मूल में निष्काम कर्म की चर्चा नहीं है। यद्यपि अधिकांश भाष्यकारों द्वारा ऐसा ही किया गया है।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।। मनु० २।२।११

अधिक कामनाओं वाला बनना अच्छा नहीं है। पर संसार में निष्काम होना भी कठिन है क्योंकि वैदिक ज्ञान की प्राप्ति तथा वेद प्रतिपादित कर्म भी तो काम्य ही हैं।

मूलमें कोई न कोई संकल्प तो अवश्य होता है। इसी पर व्रत, उपवास, यम, नियम आदि सभी धार्मिक कृत्य उत्पन्न और संपन्न होते हैं अर्थात् उनके मूलमें संकल्प होता है।

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्प सम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥ मनु० २।४

जब तक पूर्ण वैराग्य हृदय में उदय न हो जाये, कर्म करना चाहिये। निष्काम कर्म प्रायः सन्तों, योगियों द्वारा होते हैं, क्योंकि मन की कामनायें जब समाप्त हो जाती हैं तो स्वाभाविक रूप में भगवत् अनुराग का उदय होता ही है तथा जन्ममरण का चक्कर भी छूट जाता है। परमगति प्राप्त करने वाले महात्मा निष्काम कर्मयोग के अनुगामी होते हैं।

उपनिषद्के अनुसार जो जीव अपने मनमें जैसी कामना करके कर्मों का सम्पादन करते हुए उनकी पूर्ति की इच्छा करता है वह उसी के अनुरूप विभिन्न स्थानों में जन्म ग्रहण करता है परन्तु उसमें जो आप्तकाम पूर्ण निष्काम हो चुके हैं उनकी कोई इच्छा नहीं रह गयी है, ऐसे महापुरुषों की इच्छायें समाप्तप्रायः हो जाती हैं।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥
(मुण्डक० ३।२।२)

कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका उद्घाटन इस प्रकार से किया गया है—

जब पुरुष के हृदय की समस्त कामनायें छूट जाती हैं तो वह अमृत हो जाता है और भगवत् सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। इस मन्त्र का तात्पर्य है कि मानव को अनासक्त भावसे कर्म करना चाहिए, निष्क्रिय कभी भी नहीं होना चाहिये।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते येऽप्यस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ उ० २।३।१४

संसार में भगवान ने शरीर में जितनी इन्द्रियां प्रदान की हैं वे सभी कर्म करने के लिए ही हैं। अब रहा कर्म की विधायें, तो

कोई केवल अपने तथा परिवार के लिए, कोई परोपकार के लिए, कोई लोक मंगल के लिए भी कर्म करते हैं। सबकी अपनी-अपनी दृष्टि है, उसी के अनुसार प्राप्ति एवं सुविधा तथा दैवी कृपा भी प्राप्त होती है। वैसे विद्वानों को तो स्वार्थ का त्याग करके ही कर्म करना चाहिए। गीता का यही परम तात्पर्य हमको अभिप्रेरित करता है कि बहुजन हिताय कर्म करना ही चाहिए।

जीवन में नित्य नैमित्तिक कर्म भी अत्यन्त आवश्यक है। जैसे संध्या वन्दनादि पूर्वक पञ्च महायज्ञ, अश्वमेध पर्यन्त समस्त यज्ञ, दान, परोपकार आदि उत्कृष्ट कर्म आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक की कामना से भी सम्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ स्पष्ट निर्देश करता है कि मानव को अनासक्ति पूर्वक संसार में श्रेष्ठ कर्म करना चाहिये। अतः महापुरुष कल्याण की कामना से कर्म करते हैं। ऐसा करने से यदि सफलता न भी मिले तो दुःख नहीं होता क्योंकि कर्म में उनकी आसक्ति नहीं होती है और जो कर्म करके उसमें बँध जाता है वह कर्तृत्वाभिमान है तथा सफलता न होने पर मन में विक्षोभ होता है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन, मान-अपमान सब का सहन करते हुये कर्म से कभी भी विचलित नहीं होना चाहिए। इसी का निर्देश इस दूसरे मन्त्रमें किया गया है— **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"**

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। गीता ३।५

प्रकृति का यह शाश्वत नियम है कि किसी भी काल या क्षण में बिना कर्म किये पुरुष नहीं रह सकता। **"नान्यथेतोऽस्ति"** इतः अन्यथा न अस्ति। कर्म करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतः स्पष्ट है कि समस्त तप, यज्ञ, अनुष्ठान आदि कर्म से ही उत्पन्न हैं। वेद भगवान् अनुग्रह करते हैः सर्व प्रथम तप और कर्म ही मात्र विद्यमान थे। इस महान संसार में तप कर्म से प्रादुर्भूत हैं। उस ज्येष्ठ परब्रह्म (भगवान्) की उपासना एवं भक्ति के लिए तप और कर्म ही उपस्थित हुये। उसी के द्वारा हमें प्रकाश प्राप्त हुआ।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ।। अथर्व० ११।८।६

जीवन में कर्म और तप का अपना विशेष महत्व है । यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म द्वारा "तपस्तप्त्वा" तप से ही उत्पन्न है । मानव को अपने समस्त कर्म एवं तप ईश्वर को ही समर्पित कर देना चाहिए, तभी उसका उत्कर्ष एवं संसार में निखार आता है ।

इच्छाद्वेषप्रयत्न सुख दुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम् । न्याय १।१।१०

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, पुरुषार्थ, सुख दुःख तथा ज्ञान यह सभी आत्मा को ही चिह्नित करते हैं । कर्म सम्पादन करना, ज्ञान प्राप्त करना आदि आत्मा का सहज स्वभाव है। अतः कर्म सम्पादन करना आवश्यक है । अतः मन्त्रमें इसके अतिरिक्त मार्ग का निर्देश नहीं किया गया है । **"नान्यथेतोऽस्ति"** अतः ज्ञानी जन जो कर्म आदि का निषेध करते हैं उनकी संकुचित परिभाषा है । **न हि देहभृताशक्यं व्यक्तुम् कर्माण्यशेषतः** । गीता १८।११ कर्म की अनिवार्यता को दृष्टिमें रखकर प्रत्येक मनुष्य को वेद विहित कर्मों का सम्पादन करना हो चाहिये ।

मनुष्य को धर्मानुकूल कर्म करना चाहिए कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि कर्म न करने से जीवन यात्रा ही कठिन हो जायगी । अपनी इन्द्रियों को वशमें करके कर्म इन्द्रियों से बिना आसक्त हुए कर्मयोग का पालन श्रेष्ठ कहा गया है ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।। गीता ३।७

न कर्म लिप्यते नरेः—बिना किसी उद्देश्य द्वारा प्राप्त की गयी समृद्धि या संपत्ति से संतुष्ट रहने वाला व्यक्ति संसार के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर सिद्धि एवं सफलता प्राप्त कर लेता है और सभी में समभाव रखने वाला ईर्ष्या रहित पुरुष कर्म करके भी उसमें लिप्त नहीं होता, अतः कर्म-बन्धन उसको अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते । ऐसे कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं और पुरुष उसमें लिप्त नहीं होता ।

कबहुँ दिवस महँ निविड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग ।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ।। रा० मा०

कुत्सित साहचर्य से ज्ञान का प्रकाश आच्छादित हो जाता है, जबकि सुसंगति से ज्ञान उत्पन्न होता है। महापुरुषों के हृदय में, मन, वचन, कर्म तीनों में एकरूपता होती है । उनका जैसा चित्त वैसी ही वाणी, जैसी वाणी होती है वैसी ही क्रिया होती है ।

संसार में वे महान हैं, जो अशुभ कर्मों से सर्वदा विमुख हैं। जिसका मन, बुद्धि,अन्तःकरण शुभ कर्मों में प्रवृत है,वह प्रकृति विकृति रूप समस्त संसार को अच्छी तरह जान लिया है और वही ज्ञानी कहा जा सकता है क्योंकि कठिन से कठिनतम परिस्थिति आ जाने पर सञ्चित पुण्य ही मनुष्य की रक्षा करते हैं। अतः उत्तम कर्म उन्नत पथ पर ले जाने वाला होता है । मृत मनुष्य का ऐश्वर्य अन्य लोग भोगते हैं । उसके शरीर का उपभोग अग्नि, पक्षी आदि करते हैं, परन्तु मात्र पाप-पुण्य इन दो से लिपटा हुआ यह आत्मा अन्य लोक गमन करता है। **"पापेन पुण्येन च वेष्ट्यमानः अयं द्वाभ्यां सह अमुत्र गच्छति"**

संसार का सबसे बड़ा कर्मशील स्वयं परमात्मा है । उसी के द्वारा यह समस्त सृष्टि रची गयी है । वह परम त्यागी है तथा निःस्वार्थ कर्म करने वाला है । वह बिना किसी स्वार्थ के इतनी बड़ी सृष्टि की रचना तथा पालन किया है और स्वयं इसका पोषण करता है । अतः उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में **"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्"** भगवान् द्वारा प्राप्त वस्तुओं का उपभोग त्याग पूर्वक करो। किसी के ऐश्वर्य को देखकर उसे प्राप्त करने की इच्छा मत करो। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करो, जिससे यह समग्र जीवन यज्ञमय हो जाये । हम किसी के ऋणी न हों, प्राणि-मात्र में दया धर्म हो, जिससे सभी का मंगल कर सकें। अपने साथ किये गए उपकार के बदले प्रत्युपकार भी करने का सामर्थ्य हममें विद्यमान हो ।

ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु । यजु० ३४।१

ज्योतिः स्वरूप मेरा दिव्य मन शिव संकल्प वाला हो। सत्य एवं कल्याणकारी संकल्प वाला हो। जब मन शुभ संकल्प वाला होगा तो संतोष भी आयेगा।

संतोष मूलं हि सुखं दुःख-मूलं विपर्ययः । मनु० ४।१२
उदित अगस्त पंथ जल सोखा । जिमि लोभहिं सोखइ संतोषा ।।

संतोषी मनुष्य सदा शान्त-चित्त एवं संयत रहता है। हमारे कर्म भगवत् परक अधिक होने चाहिए। यदि ईश्वर को आगे करके हम कर्मों का सम्पादन करते हैं तो वह सभी तप में ही परिगणित किया जाता है। वेद भगवान् भी इसी का अनुमोदन करते हैं। उपासना करना, ज्ञान प्राप्त करना, उसका अन्वेषण करना, सत्य का भाषण करना, सत्य का आचरण करना ये सभी तप में ही गिने जाते हैं। ऋतं तपः। सत्यं तपः। श्रुतं तपः। शान्तं तपः। दमः तपः। शमः तपः। दानं तपः। यज्ञो तपः। (भूः भुवः स्वः ब्रह्म) वह पर ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। उसका भजन और उपासना करो यह सर्वोत्कृष्ट कर्म है।

इन उपर्युक्त कर्मों द्वारा जिसका जीवन तपाया हुआ है, वास्तव में वह कृतार्थ है तथा मानव शरीर भी धारण करना सार्थक है। हम शुभ का श्रवण करें। नेत्रों से मंगल का दर्शन करें। पुष्ट एवं स्वस्थ होकर हम सदैव परमात्मा की ओर अभिमुख हों, यह हमारा सच्चा कर्म है। **"भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम"**

स्वस्तिपन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता सम् गमेमहि ।।
(ऋग्वेद ५।१५।१५)

हम सूर्य, चन्द्र की तरह जगत् का कल्याण करें। अहिंसक विद्वानों का साहचर्य हमको प्राप्त हो। उनके अनुकूल हम आचरण करें। सत्य व्रत का पालन हम सदैव करते रहें। हमारा कर्म परोपकार के लिए हो। दूसरे लोगों को हम शुभ की ओर प्रेरित करने वाले हों। इस प्रकार का कर्म करना श्रेष्ठ एवं शुभ कहा गया है।

उपनिषद् का उपदेश हमको सदैव शुभ कर्मों की ही प्रेरणा देता है। हमारा जीवन-पक्ष कैसा हो इसकी शिक्षा उपनिषदों में भरी पड़ी है। हम जो भी प्राप्त करें, धर्म पूर्वक प्राप्त करें। मोक्ष के लिए अर्थ, धर्म, काम आवश्यक है परन्तु अधर्म-पूर्वक नहीं, धर्म पूर्वक ही उनकी प्राप्ति कही गयी है। क्षमा, दया, करुणा, प्रेम, व्यवहार के द्वारा ही हमको जीवन यापन करना चाहिये। यही धर्म का प्रमुख अंग है। बाह्य आडम्बर एवं चिन्हों से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, यही उपनिषदों का उपदेश है।

तृतीय मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(यजु० ४०।३१)

इस मन्त्र का पाठ भेद है। शुक्ल यजुर्वेद में अपिगच्छन्ति प्रयुक्त किया गया है।

अन्वयार्थ

तांस्ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति असुर्या नाम ते लोकाः = असुर्य नाम वाले वे लोक, अन्धेन तमसावृताः = गहन अन्धकार से आच्छादित हैं और उन लोकों को वे लोग मृत्यु के बाद प्राप्त करते हैं। ये के चात्महनो जनाः = आत्म हन्ता हैं।

भाष्य

प्रस्तुत मन्त्र में आत्म हन्ता का तात्पर्य है कि अपने आत्मा के विपरीत आचरण करने वाले लोग मृत्यु के बाद घोर अन्धकार से आच्छादित असूर्य नामक लोक को प्राप्त होते हैं। असूर्य नाम का लोक पशु, पक्षी कीट, पतंग आदि की वे योनियाँ हैं जहाँ निकृष्ट कर्मों का भोग भोगने के लिए जीवात्मा को जन्म लेना पड़ता है।

यह मानव जीवन अन्य सभी जीवधारियों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, साथ ही यह शरीर दुर्लभ भी कहा गया है। भगवान् की विशेष कृपा से ही यह मानव शरीर मिला है। इसे प्राप्त कर इस

संसार समुद्र से यदि हम नहीं तर सके तो जीवन ही व्यर्थ है। अतः इस मानव देह के मिलने का तात्पर्य है कि हम भगवत् पूजन अर्चन, वन्दन, दास्य, आत्मनिवेदन के लिए समर्पण करें। यदि कामोपभोग को ही जीवन का परम ध्येय मानकर विषयों के चिन्तन और आसक्ति में ही लगे रह गये और काम का शमन न कर सके तो यह पूरा जीवन पशु से भी निकृष्ट होकर अधः पतन की ओर अवश्य ही चला गया समझना चाहिए। ऐसे लोगों को इस मन्त्र में आत्महन्ता कहा गया है। उसे ही कर्म-बन्धन में अनुबन्धित होना कहा गया है। ऐसे विषयासक्त काम परायण लोग कोई भी क्यों न हो, संसार में चाहे जितनी बड़ी कीर्ति, ख्याति क्यों न प्राप्त कर लिये हों, नाम, वैभव, अधिकार मिल गये हों, वे लोग मृत्यु के पश्चात् बारम्बार सूकर, कूकर, कीट पंतगादि अनेक योनियों में संतप्त होकर भयानक नरकों में भटकते हैं। अतः भगवान् ने गीता में अनुग्रह किया है और कहा है कि अपना उद्धार अपने आप करना चाहिए। गीता में इसी को "**नष्टात्मानः**" कहा गया है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ गीता १६।९

ऐसी विपरीत एवं गलत दृष्टि का आधार लेकर अपने आत्मा का हनन करने वाले, क्रूर कर्म करने वाले एवं सभी लोगों का अमंगल करने वाले, सबका अहित करने वाले ये अल्पबुद्धि लोग संसार का विनाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। वेद में जिन्हें **आत्महनः** कहा गया है उन्हीं को गीतामें **नष्टात्मानः** कहा गया है। स्वयं अपने को सर्वगुण सम्पन्न मानने वाले अहंकारी, मूर्ख, शालीनता रहित, धन मान एवं मद से उन्मत्त वे लोग दम्भ पूर्वक अपने को बड़ा दिखाने के लिए विधिहीन क्रियायें सम्पादन करते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नाम यज्ञैस्तैर्दम्भेनाविधि पूर्वकम्॥ गीता १६।१७

ईर्ष्या, द्वेष करने तथा अशुभ कर्म करने वालों को आसुरी योनियों में ही जाना पड़ता है। निकृष्ट कर्मों में संलग्न जीवत्मा को

असुर्य नाम की अन्धकारमयी योनियों में जाना पड़ता है क्योंकि जीव को अपने कर्मों का फल तो अवश्य ही भोगना है। अतः सदैव ध्यान रखना चाहिए कि किये गये पाप और उससे अर्जित वैभव आदि को सभी भोग सकते हैं, पर पाप का भोग मुझे अकेले ही करना पड़ेगा। कोई भागीदार नहीं होगा। जीवात्मा स्वकर्मानुसार आगामी जन्म प्राप्त करता है। इसका वर्णन उपनिषदों में मिलता है।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम् ।।

गुणों से युक्त होकर फल की कामना से कर्म करने वाला और अपने किये हुये कर्मों के फलों को भोगने वाला है। वह विश्वरूप अर्थात् विविध रूपों में जन्म ग्रहण करने वाला सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त त्रिवर्त्मा उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट मार्गों से गमन करने वाला प्राणों का स्वामी जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार चलता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ही शरीर में प्राणों को धारण करता है तथा शरीर त्यागने के बाद स्वकर्म एवं ज्ञान के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ।।

(श्वेताश्वतर उ० ५.७)

यद्यपि यह जीवात्मा अनेक शरीर धारण करता है आत्मा और शरीर का संयोग का कारण आत्मा द्वारा पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के फल तथा आत्मा के अपने निजी गुणों के साथ–साथ आत्मा से भिन्न परमात्मा भी ज्ञानियों द्वारा देखा गया है। यह जीवात्मा पुनर्जन्म की अपनी योनियों को निश्चय करने में स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि उसे ईश्वर के विधान के अनुसार ही पुनर्जन्म में किये गये कर्मों का फल तथा अपने गुणों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

आत्म हनन का तात्पर्य है आत्मा के प्रतिकूल कार्य करना। आत्मा नित्य ही शुद्ध है। इसमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं है।

अथवा "आत्मानं घ्नन्ति ब्रह्मज्ञान वैधुर्येण हिंसन्ति संसारमहागर्ते पातयन्ति ते आत्महनः"(आ०भाष्य)ब्रह्मज्ञान से रहित हिंसक,विषयासक्त लोग भी आत्महन्ता ही हैं । अतः श्रुति, स्मृति को आज्ञा के अनुसार ही कार्यों का सम्पादन करना श्रेष्ठ कहा गया है। निकृष्ट एवं प्रतिकूल कार्य करने पर भय, लज्जा, ग्लानि आदि स्वयं आती है । उसके विपरोत शुभ कार्य करने पर हृदय में उत्साह एवं प्रसन्नता होती है । अतः मनसा, वाचा, कर्मणा शुभ आचरण ही करना चाहिए ।

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने अपने आनन्द-भाष्य में असुर्या का अर्थ असुर प्रकृतिक जीव किया है । और असुर का अर्थ तमःप्रधान गुण विशिष्ट स्वभाव वाले जीव हैं । "असुराणां तमः स्वभावानां जीवानामिमे असुर्याः आसुर प्रकृतिकाः जीवाः भाव्या रौरवादि संज्ञाः लोकाः भोगभूमयः प्रसिद्धाः" (ई०उ०आ०भाष्य)

बृहदारण्यक उपनिषद् में "असुर्याः" शब्द का अर्थ अनन्दा प्रयुक्त किया गया है । इससे स्पष्ट होता है कि असुर्य शब्द का अर्थ आनन्द रहित है । इसी प्रकार 'आत्महन' के स्थान पर अविद्वान तथा अबुध शब्दों का प्रयोग किये जाने से स्पष्ट होता है कि मूर्ख एवं आत्मज्ञान से रहित लोग ही अपने आत्मा का हनन करने वाले होते हैं। अपने आत्मा के प्रतिकूल आचरण करने वाले अज्ञानी एवं मूर्ख होते हैं ।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वान्सोऽबुधो जनाः ।।

(बृहद्०उ० ३४।४।११)

इस संसार में जो अज्ञान के अन्धकार से आवृत हैं, जो आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं, वास्तव में वे लोग दैत्य तथा राक्षस कोटि के लोग हैं और इसी रूप में उनकी प्रसिद्धि भी होती है । मर कर भी वे लोग दुःख पूर्ण विषय भोगों को ही प्राप्त करते हैं, अतः वे अधोगामी हैं । उनका जीवन शुभ नहीं कहा जा सकता । अथवा असु शब्द का अर्थ प्राण परक है अतः असुर्या शब्द का अर्थ तो यह हो सकता है कि जो लोग शारीरिक बल के रूप में संसार में प्रसिद्धि

प्राप्त कर चुके हैं परन्तु वे सत्य आचरण से पूर्ण हीन हैं, ऐसे लोग शारीरिक बल से मदोन्मत्त होकर बदमासी एवं मारपीट तथा गुण्डागर्दी आदि राक्षसी प्रवृत्तियों में संलग्न हैं। यह लोक ही उनके लिए ब्रह्म-ज्ञान है। इससे बड़ा वे कुछ भी नहीं मानते। जो किसी को सता कर, समाप्त कर लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति करते हैं, वही असुर हैं। विचारशून्य होना भी असुर प्रवृत्ति का परिचायक है। दूसरे को दुःख देकर आनन्दित होने वाला भी असुर ही है।

प्रथम मन्त्र में सर्वेश्वर श्रीराम जी में निष्ठा,दूसरे में कर्म-योग में प्रेम तथा तीसरे में उभय निष्ठा शून्य आत्मघात की राक्षसी वृत्ति का ही परिणाम है।

इस जगत् में अपनी आत्मा के विपरीत आचरण न करने वाले महापुरुष ही परमगति के अधिकारी तथा जीवन में प्रकाश रूप पाथेय का अर्जन कर पाते हैं। गीता भगवती इसका प्रतिपादन बड़े समारोह के साथ प्रस्तुत करती है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १३।२८)

हमारे शास्त्रों में शुभ आचरण एवं सभी के प्रति मंगल कामनायें सर्वदा की जाती हैं। संसार के समस्त प्राणियों में जो निश्चय आत्मवत् दर्शन करता है वह परमगति प्राप्त करने का अधिकारी है। कैसी वैदिक शिक्षा है कि संसार के प्रत्येक प्राणी में शुभ एवं सुख दर्शन की उत्कृष्ट प्रेरणा दी गयी है ! यही हमारा भारतीय एवं हिन्दुत्व गौरव है जो आज भी अक्षुण्ण है। उसी प्रेम, उपकार और करुणा की अजस्र धारा इस देश में प्रवाहित होती है। यदि इसमें अपने ही दोषों से कोई जलने लगे तो शास्त्रों का क्या दोष है? यहाँ का निवासी परम गति का अधिकारी तब होता है जब उसमें सम दृष्टि आ जाय। जो ऐसा नहीं करता उसे आत्महन्ता और असुर्याः शब्द से अभिहित किया गया है। गीता उसी का समर्थन करती है।

चतुर्थ मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः । ब्रह्मा देवता । निचृत्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

(यजु० ४०।४)

अन्वयार्थ

एकम् = एक, अनेजत् = "न एजते कम्पते इति अनेजत् अकम्पमानम्-सर्वत्र व्यापकत्वेन गतत्वात् गन्तव्यो देश एव नास्ति"(आनन्द भाष्य) परमात्मा केवल एक है । वह कम्पन रहित अचल होते हुये भी मन से भी अधिक वेगवान् है । एनत् देवा न आप्नुवन् = उस ब्रह्म को देव अथवा इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं । अगोचर होने के कारण वह चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है । पूर्वम् अर्षत् = वह सर्वत्र व्यापक है । अथवा वह सबसे पुरातन है और सभी को गति, शक्ति, स्फूर्ति तथा प्रेरणा प्रदान करने वाला है । तत् तिष्ठत् अन्यान् अत्येति = वह स्थिर होते हुए भी अन्य सभी दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है । मातरिश्वा = वायु आदि देवता, अपः = जल वर्षा आदि क्रिया, दधाति = सम्पादन करने में समर्थ होते हैं ।

भाष्य

वह एकत्व विशिष्ट परमात्मा अचल अर्थात् ध्रुव होते हुए भी सबसे अधिक वेगवान है । तथा वह सर्वत्र व्यापक है । संसार का कोई भी पदार्थ या क्षण ऐसा नहीं है जहाँ वह विद्यमान न हो । वह गति में सबसे आगे निकलने वाला है । उस ईश्वर को ये हमारी प्राकृत इन्द्रियाँ अवरुद्ध नहीं कर सकती हैं । **"तत्र वाक् न गच्छति चक्षुर्नगच्छति"** वह वाणी और नेत्र से सर्वथा परे है । चक्षु एवं श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा न वह देखा जा सकता है और न श्रवण किया जा सकता है । न किसी प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है । उसी की कृपा से वायु जलकणों को धारण करता है तथा उसी की कृपा से यह जीवात्मा गर्भ में पूर्व कृत कर्मों को ही भोगता है ।

"एकः" इण् गत्यर्थक धातु से गुण करके एक इस पद की निष्पत्ति होती है। "एति इति एकः" अर्थात् परमात्मा एक है। एक शब्दसे परात्पर ब्रह्म सर्वावतारी श्रीरामजी निर्दिष्ट हैं। एकत्व विशिष्ट गुण एवं गति केवल भगवान् श्रीराम में ही घटित होते हैं क्योंकि समस्त चरित्र एकमात्र श्रीराम में मर्यादापूर्वक विद्यमान हैं। अतः वेदावतार श्रीवाल्मीकीय रामायण में मात्र एक वचन एवं एक पुरुष के बारे में जिज्ञासा की गयी है। **"कोन्वस्मिन् साम्प्रतम् लोके" आत्मवान् कः"** इस समय अर्थात् वर्तमान काल में ऐसा कौन पुरुषोत्तम है, जिसने काम क्रोधादिक शत्रुओं को जीत लिया है। इसके उत्तर में **"कौशल्यानन्दवर्धनः" "सर्वगुणोपेतः"** कहा गया है, इसमें भी एक वचन का ही प्रयोग किया गया है। और सभी अवतार लोकमर्यादा का पालन करवाये हैं किन्तु भगवान् श्रीराम ने स्वयं मर्यादा का पालन किया भी है। 'मर्यादानां च लोकस्य कर्त्ता कारयिता च सः' इस प्रकार ब्रह्म पद विशिष्ट श्रीराम तत्व ही रम् धातु का तात्पर्य है। ब्रह्मतेज की समस्त क्रियायें रामावतार में विद्यमान होने के कारण **एकः** पद से श्रीराम तत्व का ही बोध होता है। श्रुति में भी इसको स्वीकार किया गया है।

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च।
(अथर्व० १३।४।१४)

य एतं देवमेकवृतं वेद। १३।४।१५

अर्थात् जो इसको एक मात्र देव समझता है उसको कीर्ति और ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस जीव के समस्त अघों=दुरित कर्मों का समूल नाश हो जाता है। जो उन मर्यादापुरुष श्रीराम के चरित्र को अपने जीवन में चरितार्थ कर लेता है उसका जीवन देवत्व की ओर चला जाता है। उसका जीवन सुखमय हो जाता है। दुग्ध, अन्न और फल आदि समस्त जीवनोपयोगी वस्तुएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। **अम्भः** का अर्थ जल और जीवन दोनों होता है। **नभः** का अर्थ

आकाश एवं पोषणीय दोनों होता है। अम्भः शब्द का अर्थ ज्ञान और प्रकाश भी होता है। चरित्र का सम्यक् ज्ञान श्रीराम में विद्यमान है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेक वृतं वेद।
(अथर्व० १३/४/१६)

न उनको दूसरा, न तीसरा, न चौथा ही कहा जाता है। इनको मात्र देव जानता है।

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद।
(अथर्व० १३।४।१७)

न पाँचवाँ न छठवाँ न सातवाँ ही कहा जाता है। जो इसे मात्र देव ही जानता है।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेक वृत्तं वेद।
(अथर्व० १३।४।१८)

न आठवाँ न नववाँ न दशवाँ ही कहा जाता है, इसको भी एक मात्र देव ही जानता है।

स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न। (अथर्व० १३।४।१९)

वह सर्वान्तर्यामी परमात्मा सभी जड़ चेतन को देखता है क्योंकि वह समभाव से सर्वहितैषी है। 'येन प्राणः प्रणीयते' प्राण भी जिसके द्वारा प्राणवन्त है। प्राण प्राण के जीवन जीके। वह श्रीराम प्राण के प्राण और जीव के जीव हैं। प्राण वायु में जो शक्ति विद्यमान है जल वर्षा, धूप, प्रकाश, प्राणधारण आदि समस्त क्रियायें उसी परमेश्वर की शक्ति का एक अंश मात्र है। उस भगवत् कृपा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता है। वह असीम है उसकी सीमा नहीं है कोई असीम उसका पार नहीं लगा सकता है। अतः परब्रह्म पद वाच्य श्रीरामतत्व ही सब में अभिव्याप्त है। वह दिव्य देव भी हैं। अतः श्रुति अनुग्रह करती है—

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव य एतं देवमेकवृतं वेद।
(अथर्व० १३ ४।२०)

यह समस्त जगत् जिसके आश्रित है, वह परमात्मा एक है। एक वृत है और एक मात्र ही है। जो इसे एक मात्र देव जानता

है। उस इन्द्रियादि समस्त प्राणों को विश्राम और आनन्द प्रदान करने वाले भगवान् श्रीराम की भक्ति और उपासना करनी चाहिए।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

(यजु० १३।४)

(हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत) सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थों को धारण करने वाला प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही सृष्टि के पूर्व में विद्यमान था। (भूतस्य एकः जातः पतिः आसीत्) सम्पूर्ण जड़ चेतन पदार्थों के एक मात्र प्रसिद्ध स्वामी के रूप में वही था। (सः इमाम् पृथिवीम् उतद्याम् दधार) वही परमात्मा पृथिवी एवं आकाश आदि को धारण किया है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ऐसे सुख-स्वरूप प्रभु राम की हम अपने सच्चे अन्तःकरण से भक्ति पूर्वक उपासना करें।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

(यजु० २३।३)

यः=जो (प्राणतः निमिषतः जगतः) समस्त प्राण धारण करने वाले तथा पलक झपकाने वाले प्राणियों का महित्वा-अपनी महिमा के द्वारा (एक इति राजा बभूव) एक मात्र अकेला स्वामी है, और यः=जो (अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) संसार के द्विपद एवं चतुष्पद प्राणियों पर जो शासन करता है, ऐसे एक मात्र सुख स्वरूप श्रीराम का हम भक्ति पूर्वक भजन करें।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एकऽएवत सम्प्रश्नं भुवनायन्त्यन्या ।।

(ऋग्वेद १०।८२।३)

जो हमारा रक्षक एवं जन्मदाता तथा समस्त संसार का बनाने वाला एवं कर्मों के अनुसार फल देने वाला है। (यः विश्वा भुवनानि) जो सभी लोकों को (धामानि वेद) स्थानों का ज्ञान रखता है।

(देवानां नामधा) सम्पूर्ण देवों का नाम स्वयं धारण करता है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा सर्वदेव वाची है। अग्नि, वायु, आदित्य, प्रभृति देवताओं के नाम जिस ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होते हैं क्योंकि समस्त देवता भी उसी की शक्ति से शक्तिमान हैं और प्रयोग भी करते हुए देखे जाते हैं। (तं सं प्रश्नम्) उसी उत्तम प्रकार से प्रश्न किये जाने योग्य परमात्मा के प्रति (अन्यः भुवनाः यन्ति) समस्त भुवन पहुँचते हैं। अर्थात् संसार के समग्र लोक लोकान्तर उसी विराट् की कुक्षि में ही प्रविष्ट होते हैं। अतः सद् ब्रह्म तथा आत्मा आदि वाक्यों का पर्यवसान श्रीराम में ही होता है।

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः। वा०रा०२।४४।१५

दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः।

उस परमात्मा के प्रकाश से ही समस्त चन्द्र सूर्य आदि प्रकाशित हैं। वह प्रभु के भी प्रभु हैं। ॐ में-'अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैक विग्रहः' इसमें अर्धमात्रात्मक मकार ब्रह्म के रूपमें स्वीकार किया गया है। "ब्रह्म चासौ आनन्दश्च ब्रह्मानन्दः स चैको विग्रहो यस्य स ब्रह्मानन्दैक विग्रहः" "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति प्रतिपादित व्यापक आनन्द-स्वरूप श्रीराम जी का विग्रह है, प्राकृत नहीं है। रामजी का स्वरूप तथा विग्रह दोनों सच्चिदानन्दमय हैं।

यथा-**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।**
इति राम पदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥

"रामो रमयतां वरः"

ब्रह्मा—विष्णु—महेशाश्च यस्यांशा लोकसाधकाः।
त राम सच्चिदानन्दं नित्यं रासेश्वरं भजे॥

(हनुमत्संहिता)

अर्थात् जिन श्रीराम के अंश से उत्पन्न ब्रह्मा, विष्णु और महेश अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि, रक्षा एवं संहार करते हैं, वह सच्चिदानन्द-स्वरूप नित्य विहारी रासेश्वर श्रीराम का हम भजन करते हैं। ब्रह्मपद वाच्य श्रीराम जी सर्व प्रकाशक अग्नि एवं सूर्य के

भी सूर्य हैं। प्रभोः प्रभुः=सर्व नियामक ईश्वर के भी ईश्वर हैं। श्री की भी श्री हैं। कान्ति की कान्ति हैं। सर्वश्रेष्ठ कीर्ति की भी कीर्ति हैं। क्षमा की क्षमा, देवताओं की देवता सर्व समर्थ हैं। प्राणियों के सत्ताधारक और प्रेरक श्रीरामजी ही हैं। इस प्रकार श्रुति प्रतिपादित वही ब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब कुछ है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः ॥

[यजु० ३२।१]

उपर्युक्त सभी नाम अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र वही ब्रह्म है। वही जल, वही प्रजापति आदि ये सभी नाम ब्रह्मवाचक हैं।

उसी एक ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन सर्वत्र श्रुतियों में किया गया है। ब्रह्म अग्नि स्वरूप है क्योंकि वह प्रकाशित होने से एवं सभी को भस्म एवं भक्षण करने की शक्ति रखता है अतः वह अग्नि है, आदित्य है क्योंकि समग्र संसार को प्रकाशित करता है। सभी कालों का विभाग आदि भी वही है। वह वायु भी है। उसमें स्पर्श की क्षमता है,वह बलवान् एवं सभी को धारण करने वाला है। "एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा" जो केवल एक है और सभी को अपने वश में रखने वाला है। "एकं रूपं बहुधा यः करोति" एक से अनेक रूपों में परिणत होता है- एक ही प्रकृति से विश्व के अनेक रूपों का निर्माण कर देता है। समस्त सुखों का भी अधिष्ठान वही है। उसी को श्रुति ने विविध रूपों में स्वीकार किया है। वह स्वयं रमता है और रमण भी कराता है।

एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

जो बहुतों में एक है और जो किसी अभिलाषा से किये जाने वाले कर्मों के फलों का विधान करता है। वह परब्रह्म परमात्मा अचल है। इसका पूर्ण वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ॥

[बृहद् उ० ४।४।२०]

उस परब्रह्म को (एकधा एव द्रष्टव्यम्) एकात्मक रूप में ही देखना चाहिये। आकाश के समान व्यापक सत्य अनन्त ज्ञानमय सुख स्वरूप में ही देखना चाहिये। (अप्रमेयम्) प्रमाण जिसका कोई है ही नहीं। ध्रुवम्=वह अचल है। वह आत्मा अर्थात् परमात्मा निर्मल आकाश से भी सूक्ष्म अजन्मा एवं अविनाशी है। उसका किसी भी अवस्था में नाश नहीं होता, साथ ही वह सुख स्वरूप कहा गया है।

जो आनन्द सिन्धु सुख रासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी।
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा।

[रामचरितमानस]

अनेजदेकं मनसो जवीयः। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठतः।

परमात्मा एक ध्रुव होते हुए भी अधिक वेगवान है। स्थिर होता हुआ भी सभी दौड़ने वालों में आगे निकल जाता है। इन्द्रियों से यह अग्राह्य है। उस परमात्मा को जो धीर पुरुष सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं उन्हें पराशान्ति की प्राप्ति होती है। श्रुति अनुग्रह करती है (आसीनः दूरं व्रजति) बैठा हुआ दूर चला जाता है। (शयानः सर्वतः याति) सोता हुआ भी सब ओर जाता है। साकार पदार्थोंमें निराकर और चलायमानों में अचल, महान, सर्वत्र व्यापक परमात्मा को जानकर धीर पुरुष संसार के शोकों से रहित हो जाता है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

[कठ० १।२।२२]

वेदावतार श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में देवर्षि नारदजी से पूछा था—"**कश्चैकप्रियदर्शनः**"एकमात्र प्रियदर्शन कौन हैं? देवर्षि नारद जी उत्तर देते हैं— श्रीरामभद्र का ही दर्शन सदा एकरस नित्य नवीन बना रहता है। सांसारिक लोगों में प्रिय-अप्रिय का भी दर्शन होता है परन्तु श्रीराम राघवेन्द्र का सौन्दर्य नित्य निरन्तर अनुभव करने पर भी भक्तों को नित्य नवीन की प्रतीत होती है।

इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा ।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ।।

श्रुति भगवती ने उसी परब्रह्म श्रीराम को रूपवान्, बलवान्, चरित्रवान्, विद्वान् प्रतिपादित करके प्रस्तुत किया है–

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
(कठोपनिषद् २।३।९)

परब्रह्म स्वरूप का दर्शन प्राकृत चक्षुओं द्वारा होना कठिन है। वह स्वकीय कृपा द्वारा बुद्धि वैभव से मनन करने पर प्रकाशित या चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । जो उसको जान लेता है वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है । वह वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता, बल्कि उसके द्वारा वाणी स्वयं प्रकाशित होती है । जिसका मन द्वारा मनन नहीं किया जा सकता, वह जिसका स्वयं मनन करता है वही ब्रह्म है । जो प्राण से श्वास नहीं लेता, प्राण के व्यापार से जीवित नहीं रहता, जिससे प्राण स्वयं प्राणवन्त है, वह ब्रह्म है ।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। केन० १।८
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निःकलं ध्यायमानः ।।
(मुण्डक० ३।१।८)

वह ब्रह्म वाणी, चक्षु या अन्य इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है । विशुद्ध अन्तःकरण होने पर उसकी उपासना करने पर साधक भक्त पर निर्हेतुकी कृपा स्वयमेव होती है-"यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।। (ज्ञान प्रसादेन) ज्ञान के प्रसाद से, ज्ञान अखण्ड एक सीतावर० । उसी से जीव कृतार्थ हो जाता है । श्रुति भगवती अनुग्रह करती हैं ।

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं,
मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युब्रह्मपुराणमग्र्यम् ।।
(बृहदारण्यक ४।४।१८)

वह प्राण के प्राण, चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र, मन के मन का पूर्ण ज्ञान रखते हैं। उस पुरातन एवं अग्रगामी श्रेष्ठ ब्रह्म को जानते हैं। मानव शरीर में पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ और पाँच कर्म इन्द्रियाँ विद्यमान हैं। कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाणी, हाथ, पैर उपस्थ तथा मलेन्द्रिय, ये १० इन्द्रियाँ हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इन पर मन एवं बुद्धि के द्वारा अनुशासन होता है। मन इन्द्रियों से सूक्ष्म है। मनसे सूक्ष्म बुद्धि तथा बुद्धिसे सूक्ष्म आत्मा है। अतः आत्मा श्रेष्ठ कहा जाता है। ज्ञान इन्द्रियों का विषय भिन्न-भिन्न होता है। जैसे चक्षु का कार्य दर्शन है, इसका विषय रूप ही होगा। उसको निम्न तालिका के द्वारा अनुगम किया जा सकता है।

इन्द्रिय	विषय
श्रोत्र	शब्द
त्वचा	स्पर्श
नेत्र	रूप
जिह्वा	रस
नासिका	गंध

पूर्वोक्त(मुण्डक३।१।८)मन्त्रमें आये देव शब्द का अर्थ इन्द्रिय क्रीड़ा, विजयकी इच्छा, व्यवहार,द्युति स्तुति,मोद, मद, कान्ति एवं गति है। अपने-अपने ज्ञान का प्रकाश करने के कारण इन्द्रियों को देव कहा गया है तथा उपर्युक्त सभी क्रियायें ब्रह्म श्रीराम में विद्यमान होने के कारण ब्रह्मपदवाच्य श्रीराम का प्रतिपादन किया गया है।

जैसे ब्रह्माण्ड में ईश्वर की शक्ति सूर्य, वायु, अग्नि, चन्द्रादि महान देवों में कार्य करती हैं, उसी प्रकार इस शरीर में जीवात्मा की शक्ति चक्षु, त्वचा, नासिका, श्रोत्र, जिह्वा, वाणी आदि इन्द्रियाँ मन में कार्य करती हैं। अतः आत्मा को ही इन्द्र कहा गया है।

इन्द्रियमिन्द्र लिङ्गमिन्द्र दृष्टमिन्द्र जुष्टमिन्द्र दत्तमितिवा।

(अष्टाध्यायी ५।२।६)

वास्तव में इन्द्रिय का समग्र कार्य आत्मा पर ही आधारित है। इनके कार्य आत्माकी शक्तिके या आत्मा की उपस्थिति के परिचायक हैं। इसी प्रकार इन्द्र दृष्टं, सृष्टं, जुष्टम् से यह प्रकट होता है कि ये इन्द्रियाँ आत्मा की ही शक्ति से ही शक्तिमान हैं। संसार या शरीर में व्याप्त शक्तियाँ रमण शील परम प्रभु ब्रह्मपद वाच्य श्रीरामदेवजी से ही अनुप्राणित एवं शक्ति सम्पन्न दिखाई पड़ती हैं।

परमात्मा ने इन्द्रियों का द्वार बाहर की ओर बनाया है। अतः वह पुरुष इन्द्रियों के द्वारा बाहर की ओर देखता है, अन्तरात्मा की ओर नहीं। (स्वयंभूः खानि पराञ्चि व्यतृणत) कोई धीर पुरुष जो अन्तर की ओर झाँकने वाला हुआ वह अन्तरात्मा का दर्शन किया। (अमृतत्वम् इच्छन्) मोक्ष की इच्छा से शरीर में स्थित ज्ञानेन्द्रियाँ उस पुरुष के लिए ज्ञान तथा यश प्राप्ति के साधन हैं। इन्हीं के माध्यम से मानव उत्कर्ष की ओर जाता है। आँख, कान, नासिका-छिद्र, जिह्वा इन सातों इन्द्रियों को सप्तर्षि कहा गया है। इसके साथ आठवीं वाणी है। जिसके द्वारा वेदों के समस्त ज्ञान को प्रतिष्ठित किया जाता है क्योंकि वाणी के द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश कहा गया है। यह सप्तर्षि ही हमारे शरीर में सदैव कार्य करते हैं। इन्हीं के द्वारा हमें यश एवं शक्ति की भी प्राप्ति होती है। हमारे शरीर में भी ३३ देवताओं का निवास है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवा नेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ अथर्व० १०।७।२७

जिस शरीर में ३३ देव विभक्त होकर निवास करते हैं उन देवताओं को केवल ब्रह्म को जानने वाले ही जान पाते हैं, जो उन देवताओं तथा भूत-भविष्य, वर्तमान सभी को अपनी कुक्षि में ही रखा है।

तस्मिन्मातरिश्वा अपःदधाति-मातृ उदरे श्वयति गच्छति इति 'मातरिश्वा'। जो माता के उदर में गतिमान रहता है ऐसा जीव विशेष 'तस्मिन् अपः दधाति' उस ब्रह्म अथवा भगवत् कृपा से अपने पूर्व जन्म कर्मों के अनुसार ही कर्मों को धारण करता है। पहले जन्म में

किये गये कर्म वासना रूप में स्थिर रहते हैं। वे कर्म छूटते नहीं हैं। यही कारण है कि नवजात शिशु माँ के स्तन को बड़ी तत्परता के साथ पकड़कर पीने लगता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व अभ्यसित क्रिया इसकी है। यह स्पष्ट रूप से पुनर्जन्म का संकेत प्राप्त होता है। अथवा सत्य स्वरूप ब्रह्म प्राण कहा गया है।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(११।४।१५)

एक ही परब्रह्म परमात्मा का वर्णन मनीषी लोग करते हैं। उसी प्राण को ब्रह्म, राम, इन्द्र, वरुण, अग्नि भी कहा जाता है। उसी को दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम तथा मातरिश्वा कहते हैं।

इन्द्रं,मित्रं, वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋग्वेद १।१६४।४६)

इस प्रकार प्राणवायु भूत भविष्य एवं वर्तमान जो कुछ भी दृश्यमान है, वह सब प्राण में प्रतिष्ठित है। इस मन्त्र में प्राण को मातरिश्वा कहा गया है।

अथवा प्रकृति के समस्त कार्यों तथा प्राणियों के पोषण या चेष्टा को अग्नि, सूर्य, मेघ के ज्वलन एवं वर्षण को, दहन, प्रकाशन को वही धारण करता है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया हैं–'**प्राणो हि प्रजापतिः**'४।५।५।१३ '**प्राणो ब्रह्म इति ह स्माह कौषीतकिः (कौ०उ० २।१)** अथर्व वेद के प्राणसूक्तका प्रथम मन्त्र है– **ऋषिःभार्गवो वैदर्भिः। देवता प्राणः। प्राणायनमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।** अर्थात् जिसके वश में यह समस्त जगत् है जो सबका ईश्वर तथा समस्त ब्रह्माण्ड जिसमें प्रतिष्ठित है, ऐसे प्राण के लिए मैं प्रणाम करता हूँ। प्राण आत्मा के साथ सदैव संलग्न तथा आश्रित रहता है एवं मन के व्यापार द्वारा ही प्राण का संकल्प भी बनता है

और आत्मा के साहचर्य से यह शरीर में पहुँचता है। **प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोन्वाहार्यवचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः। (प्रश्न० ४।३)**

इस पार्थिव शरीर में प्राण रूपी अग्नि ही जागृत रहता है। अपान गार्हपत्य अग्नि है। व्यान दक्षिणाग्नि अर्थात् पचन अग्नि है। यह गार्हपत्य अग्नि से ले जाया जाता है। वह प्राण प्रणयनके कारण, ले जाये जाने के कारण आहवनीय अग्नि कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के अग्नियों की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में पूर्ण रूपमें उपस्थापित किया गया है।

अतः स्पष्ट हो गया कि ये तीनों अग्नियाँ आहवनीय, गार्हपत्य तथा अन्वाहार्यपचन, प्राण ही हैं। **"प्राणो वाऽग्निः"शतपथ२।२।२।१५ तदग्निर्वै प्राणः (ब्राह्मण० ४।२२।११)**

प्राण ही अमृत के रूप में तथा अग्नि के रूप में कहा गया है। **'प्राणो अमृतं तद् हि अग्ने रूपम्'** शरीर में निरन्तर चलता हुआ यह प्राण उस परम पुरुषसे जीवित, अनुप्राणित एवं अनुशासित है। उस पुरुष को ही राम पदवाच्य प्रतिपादित किया गया है। उसकी कृपा ही इन देवताओं आदि के विविध रूप एवं नाम धारण करती है। इन पञ्च प्राणों की स्थिति, स्वरूप एवं शरीर में उपयोगिता आदि किस प्रकार से होती है इसकी पूर्ण व्याख्या वेदों में की गयी है। इस प्रकार प्राणों का महत्व तथा देवताओं का महत्व स्पष्ट हो गया है।

तदनन्तर स्पष्ट किया जा रहा है कि वास्तव में देवता कितने हैं उनकी संख्या और प्रमाण क्या है। प्राण को ही देव भी कहा गया है। जब शाकल्य ने महर्षि याज्ञवल्क्य से देवों की संख्या के बारे में प्रश्न किया, तो पहले उन्होंने देवों की संख्या ३३०६ बताई। पुनः प्रश्न किया गया तो उन्होंने देवों की संख्या ३३ बतलाई। पुनः उन्होंने पूछा तो मात्र ६ की संख्या कही। शाकल्य के चौथे बार प्रश्न करने पर ३ ही बताई। पुनः पाँचवे बार प्रश्न किया गया तो २ बताया।

छठी बार प्रश्न करने पर डेढ़ तथा पुनः प्रश्न करने पर १ ही संख्या कही।

देवताओं की दिव्य शक्ति के बारे में पुनः प्रश्न करने पर देवताओं की संख्या १ कही गयी। अतः एक ही परात्पर ब्रह्म **'एको देवः सर्वभूतेषुगूढः'** के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। वही सर्वनियन्ता जगदाधार के रूप में प्रसिद्ध हुआ। अतः विविध पूजा, भजन, उपासना द्वारा उसी एक के द्वारा अनेक की पूजा सम्पन्न हो जाती है। पुनः शाकल्य ने पूछा कि १ देव वह कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा- वह ब्रह्म है। उसी को त्यत् भी कहा जाता है। **'प्रजापतिश्चरतिगर्भे०'** इस मन्त्र में प्रजापति का अर्थ प्राण भी किया जाता है।

प्राणो उ वै प्रजापतिः (शतपथ ८।४।१।४)

प्राणः प्रजापतिः [६।३।१।९]

प्राण प्रजापति एवं पूज्य हैं। इस प्रकार यज्ञ स्वरूप वह पुरुष राम स्वरूप दोनों से सिद्ध हो जाता है। उसी तत्व को मन्त्र में दर्शाया गया है।

इस मर्त्य शरीर में प्राण को अमृत कहा गया है तथा प्राण और अपान वायु को ही देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार कहा जाता है क्योंकि प्राण की साधना से ही प्राणों के पुष्ट होने से शरीर नीरोग होता है। प्राण ही शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग में समाविष्ट होकर सभी अवयवों को पुष्ट करता है। इस प्रकार प्राण ही सम्पूर्ण अङ्गों के रसरूप कहा गया है। इसके न रहने पर शरीर निर्जीव हो जाता है।

प्राण के अपुष्ट होने पर शरीर निर्बल हो जाता है। यह प्राण मुख में रहने वाला अङ्गिरस है, जिसके न रहने से अङ्ग निर्जीव हो जाते हैं। शरीर के जिस भाग से प्राण निकल जाता है वह भाग प्रायः सूख जाता है। अतः शरीर का सर्व पूरक प्राण ही कहा गयाहै।

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः [बृहदारण्यक १।३।१९]

इस प्रकार प्राणों को पुष्ट करने के लिए वेदों में विधान किया गया है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(गीता ४।२६)

इसमें कुछ ऐसे योगीजन हैं, जो अपान में प्राण की आहुति देते हैं। दूसरे लोग प्राण में अपान की आहुति देते हैं। प्राण तथा अपान दोनों का अवरोध करके जो लोग प्राणायाम करते हैं उन्हें शान्ति की प्राप्ति होती है। जिनका आहार-व्यवहार नियमित है वे प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। इस प्रकार के यज्ञ कर्म द्वारा जो अपने सम्पूर्ण पाप नष्ट कर दिये वे ब्रह्मविद् एवं भगवद् उपासक होते हैं। यह मानव शरीर भगवद् उपासना करने के लिए ही प्राप्त हुआ है।

पंचम मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(यजु० ४०।५)

अन्वयार्थ

तत् एजति-वह चलता है, तत् न एजति-वह नहीं चलता है। तद् दूरे तत् उ अन्तिके-वह दूर है और वह समीप भी है। तत् अस्य सर्वस्य अन्तः वह इस संसार के अन्दर है, तत् उ सर्वस्य बाह्यतः-और वह सबके बाहर भी है।

भाष्य

वह ब्रह्म कण-कण में अनुस्यूत है अतः समस्त संसार के प्रत्येक कण तथा क्षण में वस्तु, स्थान और नदी, वन, पहाड़ आदि के अन्दर तथा बाहर भी है। ब्रह्म के लिए समय और वस्तु का बन्धन नहीं है। वह इससे निर्मुक्त है। वह चलता है और स्थिर भी है अर्थात् नहीं भी

चलता है। वह हमारे अत्यन्त समीप है और अत्यन्त दूर भी है। काल स्थान, वस्तु और जीव के बन्धन हो सकते हैं, ब्रह्म के नहीं। वह सर्व-काल में सर्वव्यापक है अतः बन्धन रहित है। ये सभी बन्धन तो उसकी कुक्षि में हो विद्यमान हैं। अतः गतिशील होना, स्थिर होना, दूर रहना, पास रहना कोई महत्व नहीं रखता। अतः वेद ब्रह्म के सच्चे स्वरूप का दर्शन करवा कर हमारे हृदय के भ्रम का निवारण करते हैं, अतएव इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्म के स्थिर एवं अविचल स्वरूप का वर्णन तो चौथे मन्त्र में **अनेजदेकं** कहकर पुर्ण रूप से कर दिया गया है।

यहाँ तदेजति, तन्नैजति कहने का प्रयोजन यह है कि वह जब सर्वशक्तिमान है तो उसमें कौन सी क्षमता नहीं है। वह सगुण भी है और निर्गुण भी, चलता भी है और नहीं भी चलता है। जब वह सर्वव्यापक है तो उसको यह कहना कि यहां नहीं है, वहां है, यह अज्ञान मूलक है। गोस्वामिपाद कहते हैं—

विनुपग चलइ सुनइ बिनु काना। करबिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। विनु बानी वक्ता बड़ जोगी॥
तन विनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान विनु बास असेषा।
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाय नहि बरनी॥

जेहि इमि गावहि वेद बुध जाहि धरहि मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगतहित कोसल पति भगवान॥

[रामचरितमानस बा० ११८]

एजति=गच्छति अथवा एजयति=चालयति, वह सभी को चलाता है और स्वयं चलता भी है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तद् विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ गीता १३।१५

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस मन्त्र का तात्पर्य और स्पष्ट रूप में वर्णन किया गया है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता, पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
[श्वेताश्वतर उ० ३।१६]

वह परमात्मा बिना पैरों के चलने वाला है तथा विना हाथों के समस्त पदार्थों को ग्रहण करने वाला है। एवं विना नेत्रों के समस्त पदार्थों का स्वयं द्रष्टा है।

(सः अकर्णः श्रृणोति) वह विना कान के ही सब कुछ सुनता है। (सः वेद्यं वेत्ति) वह जानने योग्य सभी बातों को जानता है पर उस ब्रह्म का ज्ञाता कोई नहीं है। उसी को महान् तथा सर्वश्रेष्ठ पुरुष कहा गया है। अग्र्यम्=वही सर्वत्र विद्यमान था, उससे पहले कुछ भी नहीं था।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
नान्यत् किञ्चन मिषत् [ऐतरेयउ०१।१।२]

सर्व प्रथम परमात्मा ही विद्यमान था आँख झपकाने वाला अन्य कोई नहीं था। इस मन्त्र के द्वारा पूर्ण रूप से सगुण साकार परमात्मा का वर्णन किया गया है क्योंकि इदम्=आदि का प्रयोग जो समक्ष विद्यमान हो, उसी का निर्देश किया जाता है। परमात्मा स्वयं स्थिर होते हुए संसार के समग्र चर अचर को गति प्रदान करता है। उसी की शक्ति द्वारा संसार की सम्पूर्ण शक्तियाँ शक्तिमान हैं। इस संसार चक्र का संचालक भी वही है। सभी के आत्मा में वही एक परमात्मा विद्यमान है और वह यन्त्र की तरह सभी का संचालन करता रहता है। जिस प्रकार कुलाल अपने चक्र को घुमाता है और अपनी इच्छा के अनुसार निर्माण करता है, उसी प्रकार परमात्मा अपनी माया द्वारा सम्पूर्ण जगत् को अनन्त काल से नचाता चला आ रहा है जैसे कोई यन्त्र घूम रहा हो और उस पर लोग चढ़े हों।

ईश्वरः सर्व—भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
[गीता १८।६१]

अतः श्रुति अनुग्रह करती है कि भगवत् कृपा बिना संसार का कोई व्यवहार नहीं चल सकता है। यह समग्र जगत् उसी की कृपा से गतिशील है और उसी की शक्ति को लेकर सब कुछ शक्तिमान भी हो रहा है। वह भयाक्रान्त भी करने वाला है। हाथ में वज्र उठाये हुए की तरह त्रास भी देने वाला है। इस गुप्त रहस्य का परिज्ञान जिस साधक को हो जाता है वह अवश्य ही भगवत् अनुग्रह प्राप्त कर लेता है। उसका इह लोक और परलोक दोनों ही बन जाता है।

तद्दूरे तद्वन्तिके—का तात्पर्य कठोपनिषद् में बड़े समारोहके साथ उपस्थापित किया गया है। आत्मज्ञ पुरुष अथवा भगवत् भक्त कभी भी किसी से घृणा नहीं करता। वह तो सभी में अपने प्रभु का ही दर्शन करता है। इसी विचार से स्वामी रामानन्दाचार्य ने "सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा" कहकर श्री वै०म०भा० में समस्त जीव जगत् पर महान् उपकार किया है तथा अपने रामजी का दर्शन सबमें किया है। उसी का प्रतिपादन भगवती श्रुति शाश्वत करती है।

य इमं मध्वदं आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद्वै तत्।

(कठोपनिषत् २।१।५)

जो कर्मफल भोक्ता जीव के समीप अथवा भूत भविष्य के स्वामी परमात्मा या भगवान् को जानता है (ततः न विजुगुप्सते) वह साधक उस ज्ञानलोक के कारण किसी से भी घृणा नहीं करता तथा किसी से भयभीत भी नहीं होता। सत्य रूपमें वही स्वामी ब्रह्म है।

तदन्तस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः।
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥

[म०भा० ४७।५४]

यह समग्र संसार जिसमें स्थित है और जिससे सब की उत्पत्ति होती है। जो सब कुछ है। जो सभी स्थानों पर स्थित है। जो सर्वमय, विश्वरूप, नित्य, शाश्वत, एवं सब का आत्म स्वरूप है, ऐसे

सर्वज्ञ कृपालु, दयालु परम पुरुष को नमस्कार करता हूँ। यह साधक भक्त की भगवान् के प्रति सच्ची शरणागति है। भगवत् स्वरूप का बोध होने पर भगवान् को जीव सब कुछ मानने लगता है। भगवान् अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र व्याप्त हैं। वह ज्योतियोंके परम ज्योति अज्ञान अन्धकार से परे हैं। वैसे परमात्मा समान रूपसे सर्वमय है कोई स्थल ऐसा है ही नहीं जहाँ वह व्याप्त नहीं है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान गम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

[गीता १३।१७]

वह परमात्मा बड़े से भी बड़ा एवं सूक्ष्म से भी सूक्ष्म कहा गया है। समग्र प्राणियों के हृदय देश में विद्यमान है। बुद्धि के निर्मल होने से अथवा भगवत् कृपा के बल से शोक से रहित पूर्ण ज्ञान से जिसकी सम्पूर्ण इह लौकिक कामनायें दग्ध हो गयी हैं, ऐसा भक्त या ज्ञानी महापुरुष ही उसे देखता है।

अणोरणीयान्महतो महीयान आत्मस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।।

(श्वेताश्वतर ३।२०)

यहाँ श्रुति द्वारा स्पष्ट हो गया कि आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवंसर्व-व्यापक है। विशुद्ध अन्तःकरण वाला संयमित साधक या भक्त ही उसका ज्ञान या प्रकाश ग्रहण कर सकता है। ऐसे परम पुरुष को जो जान लेते हैं वहीं संसारमें भगवत सान्निध्य प्राप्त करते हैं।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।

[श्वेताश्वतर ६।११]

इस प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा सब को अनुशासित करता हुआ कर्मों का फल भी वितरण करता है। सभी का आधार एवं निवास स्थल भी वही है। अतः उसे जगन्निवास कहा जाता है। साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च-सभी प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का अनुशासक भी वही है।

पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठे वह्निः पयो घृतम् ।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्यात्मानं विवेकतः ।। ७।२१

जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध, तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि, दुग्ध में घृत और इक्षु में माधुर्य विद्यमान है उसी प्रकार इस शरीर में आत्मा व्याप्त है। इस प्रकार ज्ञानी को विचार करना चाहिए।

इस प्रकार साधक जीव में जब भगवत् स्वरूप का बोध हो जाता हैं, यद्यपि यह कठिन बहुत है। अनेक साधन भजन पूजन, अध्ययन, योग, तप, समाधि, ध्यान, धारणा आदि के द्वारा उसके दर्शन हो पाते हैं। श्रुति कहती है **"अध्यात्मयोगाधिगमेन"** अध्यात्म योग के प्राप्त होने पर (गह्वरेष्ठम्) **गह्वरे कठिने अनेकार्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्** अत्यन्त दुर्गम एवं कठिन संकटों का आगमन होने पर स्थिर रहा जा सके। उस पुरातन देव को जानकर हर्ष एवं शोक का परित्याग कर **गूढ़म्**=भगवत् प्रपत्ति रहस्यम्, अर्थात् भगवान् की प्रपत्ति-रहस्य का परिज्ञान हो जाने पर संसार के प्राकृत विषय अथवा प्राकृत शोक भय से साधक भक्त कभी पतित या भयभीत नहीं होता और भगवान् के स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर सांसारिक विषय भक्त को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते हैं। अध्यात्म योग भगवत स्वरूपका दर्शन ही है।

अतः उस परात्पर ब्रह्म का ज्ञान करने के लिए श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ आचार्य की शरण ग्रहण करना अनिवार्य कहा गया है। क्योंकि ब्रह्मतत्व अत्यन्त कठिन है। उसका ज्ञान आचार्य के विना दुष्कर है। अतः श्रुति भगवती अनुग्रह करती है और साधक को प्रेरणा देकर जगाती है 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।" (कठ० १।३।१४) आत्म तत्व के साथ जागने के लिए उत्कृष्ट आचार्य की शरण ग्रहण करो। भगवत् तत्व का ज्ञान गुरु की शरण में जाकर प्राप्त करो। जो अतिसूक्ष्मदर्शी विद्वान हैं वे उस तत्व को अत्यन्त तीक्ष्ण क्षुरे की

धार की तरह बहुत कठिन, दुर्गम, विषम एवं संकट ग्रस्त कहते हैं। (गूढ़म्) का तात्पर्य उपनिषद् में व्यक्त किया गया है।

एषु सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।

(कठोपनिषत् १।३।१२)

समग्र भूतों में परम रहस्य रूप में यह आत्मा अथवा वह सर्वनियन्ता परमात्मा दृष्टिगोचर नहीं होता। यह उच्च कोटि के साधकों द्वारा सूक्ष्म चिन्तन के द्वारा दृश्य है, अन्यथा सामान्य लोगों के लिए बहुत कठिन है क्योंकि परमभक्त भगवत्तत्व का चिन्तन प्रायः निर्विकार रूप एव सांसारिक विषयों से ऊपर उठकर ही विचार करते हैं। उन्हीं के लिए "**त्वग्र्ययाबुद्धया**" का प्रयोग किया गया है। भक्त भगवान् को सर्वत्र व्याप्त रूप में देख पाता है। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध (रा० मा०) जो रात्रि संसार के लिए होती है उसमें साधक योगी भक्त सर्वदा जागता है। अतः वह अमृततत्व का परिज्ञान भी कर पाता है। गूढ़म् = अत्यन्त गुप्त-तत्व या रहस्यमय तत्व से तात्पर्य है।

यह अन्तरिक्ष अमृतमय पुरुष से अभिव्याप्त है। अतः प्राणियों के लिए यह मधु के रूप में स्वीकार किया गया है। इस शरीरमें वह तेज से परिपूर्ण पुरुष अमृतमय है। वही परम पिता परमात्मा है। उसी को अमृत एवं ब्रह्म भी कहा गया है। जो कुछ संसार में दृश्य-मान हो रहा है, वह सब कुछ ब्रह्म की कृपा का क्षरण ही है। इसी का प्रतिपादन श्रुति करती है— **अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृदाकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव सयोऽयमात्मानमेवममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। (वृह्द० २१।५।१।१०)**

यह आत्मा भगवदंश है। उपर्युक्त मन्त्र से स्पष्ट हो गया कि ब्रह्म पद वाच्य श्रीराम तत्व का वर्णन वेद ने किया है। इसी को पुरुष रूप में श्रुति ने प्रतिपादन किया है। उसी को परात्पर ब्रह्म

भी कहा जाता है। उन परम पुरुष राम तत्व का ब्रह्म रूप में प्राण रूप जो ज्ञान कर लेता है, उसका जीवन कृतार्थ हो जाता है। जिनके हृदय में यह बात घर कर गई है कि ब्रह्म ज्ञान शुष्क निरस एवं बृद्धावस्था की वस्तु है यह बहुत बड़े भ्रम की बात है। ज्ञान, बृद्ध एवं यवा आदि नहीं होता। उसका ज्ञान बाल्यावस्था से ही होना चाहिए। जो ज्ञान बाल्यावस्था में नहीं होगा वह युवावस्था में नहीं होगा वह युवावस्था में भी उदय नहीं होगा। अतः ब्रह्म विद्या का अध्ययन प्रारम्भ से ही होना चाहिये। जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी तो ब्रह्म ज्ञान परक परिश्रम और आचार्य सेवा आदि कार्य नहीं हो सकता। ब्रह्म विद्या का परिज्ञान होने पर पुरुष अपनी आयु में नीरोग होकर भोग करता है क्योंकि उस ब्रह्म ज्ञानी का जीवन बड़ा संयमित हो जाता है। उसकी कभी भी असमय में मृत्यु नहीं होती। 'न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।'

इस मानव शरीर को वेद में अयोध्या कहा गया है। यद्यपि अयोध्या देवताओं की पुरी है। अयोध्या में अकार का अर्थ श्रीराम है। **अकारो वासुदेवः**। आठ चक्र नव द्वारों वाली अयोध्यापुरी यह मानव शरीर को कहा गया है। इसी पुरी में स्वर्ण वर्ण के समान प्रकाशित कोष है, जो परम तेज से आच्छादित है।

मानव शरीर को वेदों में देव पुरी के नाम से अभिहित किया गया है। इसमें अष्ट चक्र की प्रतिष्ठापना भी विद्यमान है। परम तेज का बर्णन तो साक्षात् ब्रह्मपद वाच्य श्रीराम तत्व के रूपमें निरूपित किया गया है। परम तेज परात्पर तत्व ही कहा गया है। 'अकारः वासुदेवः' के अनुसार श्रीराम तत्व श्री अयोध्या के कण-२ में अनुस्यूत है। भगवान् श्रीराम परब्रह्म स्वरूप हैं एवं सभी देवों के पूरक हैं। अकार का अर्थ भगवान् वासुदेव, यकार का अर्थ ब्रह्मा और उकार का अर्थ रुद्र होता है। अतः अयोध्यापुरी ब्रह्म हत्या

आदि पापों से जीवों की मुक्त करने वाली है । दो अयोध्या का वर्णन आता है । पहली अयोध्या भूतल में और दूसरी अयोध्या त्रिपाद्विभूति में स्थित है । तत्वतः दोनों एक हैं । भूतल पर स्थित अयोध्या श्री राम जी की लीला स्थली है । त्रिपाद् विभूति की अयोध्या श्रीराम जी की भोग स्थली है ।

भोग स्थानं पराऽयोध्या लीला स्थानं त्वियं भुवि ।
भोग - लीलापती रामो निरंकुश—विभूतिकः ।।

शिव सं० २ । १८ ।

अयोध्या नन्दिनी सत्या नाम साकेत इत्यपि ।
कोशला राजधानी च ब्रह्मपूरपराजिता ।।

श्री अयोध्या का अपर नाम साकेत भी कहा गया है । ब्रह्मपूः का तात्पर्य परब्रह्म श्रीराम से है । स्पष्ट रूप में अनुग्रह किये हैं कि अयोध्याके सम्बन्ध मात्रसे परमपद प्राप्त हो जाता है । जो साधन हीन जीव हैं, अशक्त हैं, धर्माचरण नहीं कर सकते, न ज्ञान के अधिकारी हैं । भक्ति आदि भी नहीं कर पाते । यह ब्रह्म तेजसे परिपूर्ण नगरी अपने स्पर्श से ही उनको कृतार्थ करती रही है । यहाँ तक कि यहाँ जन्म लेने वाले कोट, भृङ्ग, पतङ्ग आदि इस भूमि के स्पर्श मात्र से परम पद प्राप्त करते हैं । आदि पुराण जैनियों का है, उसमें कहा गया है कि '**विश्व की कर्म भूमि अयोध्या प्रथम नगरी है । इस नगरी की आध्यात्मिक सम्पदा अपना विशेष महत्व स्थापित करती है**।' "नेति नेति" का प्रतिपादन करने वाले वेद भी इसके वैभव का गान करते हैं । क्योंकि यहाँ की भूमि के प्रत्येक कणमें ब्रह्म, रस रूपमें परिणत होकर (बालक बनकर) क्रीड़ा कियाहै । अर्थववेदमें अष्ट-चक्र, नव द्वारों का जो वर्णन हुआ है वह योग की भी दृष्टि से मानव शरीर का वर्णन है । इसमें भी परात्पर तत्व अर्थात् जो शक्ति केन्द्र हैं वह भी रामतत्व ही है, जिसका वर्णन कोष्ठक के रूपमें प्रस्तुत है-

क्रम सं०	नाम	स्थान
१-	मूलाधार चक्र	गुदा के पास जहाँ पृष्ठवंश रीढ़ की हड्डी
२-	स्वाधिष्ठान चक्र	गुदा तथा नाभि के बीच में
३-	मणिपूरक चक्र	नाभि स्थान में
४-	अनाहत चक्र	हृदय स्थान में
५-	विशुद्धि चक्र	कण्ठ स्थान में
६-	ललना चक्र	जिह्वा मूल में
७-	आज्ञा चक्र	दोनों भौहों के बीच में
८-	सहस्रार चक्र	मस्तिष्क में

सीमा–दो नेत्र, दो कान, दो नाक, मुख, गुदा और शिश्न यह नवद्वार वाली पुरी अयोध्या है। इसमें देवताओं का निवास स्थान है।

योग शास्त्र में इन चक्रों का अपना विशेष महत्व है। कुछ लोग अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या किये हैं। योग शब्द, युजिर् योगे धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ संधान या निशाना होता है। हृदय में श्रीरामतत्व का संधान या उपासना करना ही अयोध्या का परम तात्पर्य है। अयोध्यावासी सन्तजन, योगी, तपस्वी, उपासक सभी श्रीरामचरित्र श्रवण, उन्हीं का अनुसंधान, उन्हीं का दर्शन आदि का आनन्द सदैव लेते रहे। महाराज दशरथ कौशल्या ने भी श्रीराम की उपासना, ध्यान, उपवास व्रत सभी श्रीराम के लिए ही करते रहे। यम, नियम पालन या तप आदि श्रीराम के लिए ही है। अतः यह नगरी परम तेजस्वी एवं प्रकाश पुञ्ज के रूपमें वर्णित है। ब्रह्मराम का चिन्तन, मनन, अनुमोदन, अयोध्यापुरी में सदैव होती रहा है। **'तस्मिन् हिरण्मये कोशे'** ब्रह्म ज्ञानियों की पुरी भी अयोध्या कही गयी है। अतः अत्यन्त तेजस्वनीपुरी के रूप,इसका वर्णन वेदोंमें प्राप्त होता है क्योंकि इस भूमि में ब्रह्म तेज का प्रवेश हुआ है। यह परम यशपूर्ण पुरी है। सदा अपराजिता है। इस अपराजेय प्रकाश से परि-पूर्ण अथवा भक्ति, प्रपत्ति से ओतप्रोत उपासना से लालित, पालित पुरी में ब्रह्मतेज का प्रवेश हुआ—

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ।

(अथर्व०, केनसूक्त १०।२।३३)

वेदों में परमात्मा एवं आत्मा का वर्णन सर्वत्र मिलता है परन्तु वैदिक परम्परा में वेद मन्त्रों का तात्पर्य प्रायः स्तुति परक है जिसका तात्पर्य उपासना या भक्ति से है । उसी अर्थ में अयोध्या का वर्णन किया है । कर्मयोग और ज्ञानयोग भी अन्त में भक्ति या उपासनामें ही परिणत होते हैं क्योंकि जीवन का विलाप विना भगवत् उपासना के निवृत्त नहीं होता है । अतः अयोध्यापुरी के रूपक द्वारा श्रीराम तत्व के वैभव का वर्णन किया है । अयोध्या अपराजित इसीलिए है कि यहाँ की भूमि भगवत् भक्ति से परिपूर्ण है । इसी तत्व का निरूपण मुण्डकोपनिषद् में भी किया गया है ।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।।

[मुण्डक० २।२।६]

अर्थात् पर कोश में स्थिर स्वर्ण कान्ति से भूषित निष्कल-परमशुभ्र ज्योति रूप ब्रह्म स्थित है । आत्मज्ञ (उपासक) ही उस रहस्य का ज्ञान कर सकते हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि यह हृदय का वर्णन किया गया है । वेदों में नवद्वार रूपी शरीर का वर्णन भी मिलता है । उसमें पुण्डरीक शब्द भी आया है । पुण्डरीक का वर्णन प्रायः भगवान् के लिए ही आया है ।

पुण्डरीकं नव द्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्म विदो विदुः ।।

[अथर्व० १०।८।४३]

(पुण्डरीकं नव द्वारम्) का तात्पर्य इस शरीरमें स्थित सहस्त्र कमल तीन गुणों अर्थात् सत्व, रज, तम अथवा ज्ञान कर्म, उपासना, से आवृत है । हृदयमें स्थित भगवत् स्वरूप देव विद्यमान हैं, उस रहस्य को मात्र साधक भक्त ही जानते हैं । ब्रह्मविदः=का तात्पर्य भगवत्

स्वरूप के बोध से उसका अनुभव केवल साधक भक्तजन ही कर पाते हैं। भगवत् स्वरूप का सम्यक् बोध मात्र भक्त को ही होता है। ब्रह्मज्ञानी का ध्यान भी अन्तिम में भक्ति का ही रूप धारण कर लेता है। ब्रह्म बोध विना भक्ति के हो ही नहीं सकता है। विना आधार के चिन्तन होना कठिन है। यदि आधारमें सेवक-स्वामिका सम्बन्ध नहीं होता है तो प्रेम उत्पन्न नहीं होता। इसका सुन्दर वर्णन यजुर्वेद में किया गया है कि भगवान् की कृपा का क्षरण अहरह समग्र जीवों पर हो रहा है। इनमें विशेष कृपा का पात्र कोई-कोई हो जाता है। जो संसार के समग्र क्रियाकलाप का दर्शन भगवत् स्वरूप तथा उस परमात्मा को समझता है वही सच्चा बोध प्राप्त कर पाता है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति, सर्वं सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।।
[यजुर्वेद ३२।८]

(वेनः) भक्त उस परमात्मा या भगवान् को देखता है जो हृदय में स्थिर रहता है। (यत्र विश्वम् एकं नीडं भवति जहाँ यह समग्र संसार एक परिवार की तरह स्थिर हो जाता है उस परमात्मा के चरणों की छत्र-छाया में संलग्न हो जाता है अथवा उस परमात्मा में मिल या लीन हो जाता है और सृष्टि का सृजन होते समय उससे भिन्न हो जाता है। (सविभूः) वह कण-कण में व्याप्त परमात्मा सम्पूर्ण संसार के प्राणियों में भी पूर्ण रूपेण व्याप्त है।

इसका तात्पर्य है—यह समग्र विश्व ईश्वर की विलास स्थली है। सम्पूर्ण संसार उसी के मित्र पुत्र होते हैं। अतः उसके समीप कोई भेद नहीं रह जाता है। उसके सभी प्रिय होते हैं। जैसे एक पिता के कई पुत्र होते हैं, सभी का स्वरूप, चाल चलन, प्रवृत्ति आदि में भिन्नता होती है, पर पिता का प्रेम सभी के ऊपर सम रूपसे होता है उसी प्रकार ईश्वर द्वारा उत्पन्न यह संसार उसके लिए प्रिय होता है। सम्बन्धों में भिन्नता हो सकती है पर पिता के कृपा का क्षरण सभी के ऊपर बराबर होता है। (स्वर्विदः अभ्यनूषत् अथर्व० २।१।१)

तत्व को जानने वाले विद्वान भक्त उसकी उपासना करते रहते है। उस परमात्मा का प्रकृति ने दोहन करके अनन्य शक्तियों का उपयोग अपने ढंग से किया है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है। उसकी कृपा सभीके ऊपर है। सर्वव्यापक परमात्माका वर्णन उपनिषदों में विविध प्रकार से किया गया है।

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। तैत्ति० २।६

उसने कामना की है कि मैं बहुत रूपों वाला हो जाऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ। उसने तप किया। (वेन:) का तात्पर्य यह है कि समग्र विद्याओं से विभूषित होना। जो ज्ञानी होगा, वह उच्चकोटि का उपासक भक्त अवश्य होगा। विना भक्तिके ज्ञान पच ही नहीं सकता। जो भगवान् का अनन्य भक्त होगा, ज्ञान सम्यक् रूपसे उसी को पच पायेगा। भक्ति के विना भगवत् साक्षात्कार होना असम्भव है, चाहे कितना भी प्रयास क्यों न किया जाय। उसने तपश्चरण पूर्वक संसार की सृष्टि की है।

स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत् यदिदं किं च। तैत्ति० २।६

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति। तैत्तिरीय उ० २।६

अर्थात् परमात्मा सृष्टि को उत्पन्न करके उसी में प्रविष्ट हो गया और मूर्त्त अमूर्त्त हो गया। साधार-निराधार, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय, विज्ञान-अविज्ञान, सत्य और असत्य सर्वरूपमें प्रकट हो गया। अतः यह दृश्यमान जगत् भी सत्य ही है क्योंकि यह सब कुछ उसी परमात्मासे ही प्रकट हुआ है। अतः इसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता है।

सृष्टि के उत्पन्न होने के पहले यह सम्पूर्ण जगत् अव्यक्त रूपसे विद्यमान था। अव्याकृत रूपमें इसकी सत्ता एवं स्थिति विद्यमान थी। उसी परमात्मा द्वारा द्वारा इस नाम रूपात्मक जगत्की उत्पत्ति हुई। उस ब्रह्म ने अपने को ही उसी रूपमें परिणत कर लिया। यही कारण

है यह रूप नाम का जगत् प्रकाश रूपमें आज भी दृष्टिगोचर हो रहा है। यह उस परमात्मा का ही प्रकाश एवं विकास है। ब्रह्म द्वारा यह संसार स्वकृत होने के कारण उत्तम है, इसमें कोई दोष नहीं है।

यह समस्त जगत् भगवान् का स्वरूप है, उससे भिन्न कुछ भी कहीं भी नहीं है। वही परमात्मा सबमें व्याप्त है। सभी प्राणियों का नियमन करने वाला वही है। इसकी पूर्ण व्याख्या ऋग्वेद के एक मन्त्र में बड़े सुन्दर प्रकार से की गयी है।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

[ऋग्वेद ६।४७।१८]

संसार के प्रत्येक जड़ चेतनमें ब्रह्म व्याप्त है और वही पदार्थ के रूपमें प्रकट भी है। भिन्न-भिन्न प्राणियों के रूपमें वह दृश्य हो रहा है। उसका प्रतिविम्ब प्रत्येक पदार्थमें विद्यमान है। अपनी अनन्त माया शक्ति के द्वारा विविध रूपोंको धारण करता है। तथा (हरयः) उसके रश्मियों का प्रसारण अहरह जगत् के लिए सदैव होता रहता है। अथवा (हरयः) का अर्थ जीवात्मा का वाचक है। समग्र जीवात्माओं को प्रकाश प्रदान करता रहता है। अथवा अपनी कृपा की वर्षा सदैव करता रहता है।

'अयं वै हरयोऽयं वै दशच सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च। तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्॥ यह जीवात्मा दश हैं। हजार हैं। बहुत हैं अनन्त हैं, वह ब्रह्म अन, अपर, अन् अनन्तर तथा अबाह्य है। उसके पूर्व कुछ भी नहीं था। इसके तुल्य अन्य कोई नहीं है। इसके अन्दर कुछ नहीं है। इसमें कुछ व्याप्त नहीं है। इसी में सब कुछ व्याप्त है। इसके बाहर कुछ भी नहीं है। सभीको यही सब ओरसे आवृत किये हुए है।

षष्ठ मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। यजु० ४०।६

अन्वयार्थ

जो समस्त जड़ चेतन चराचर जगत्को परमात्मा में ही स्थिर रूपसे दर्शन करता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों एवं पदार्थों में परमात्मा का दर्शन करता है, ऐसा महापुरुष कभी भी किसी से घृणा नहीं करता और किसी का तिरस्कार भी नहीं करता है।

भाष्य

भाव यह है कि भगवान के भक्त समस्त प्राणियों में अपने प्रभु का ही दर्शन करते हैं। प्रभु का स्वरूप समझकर वे किसी का भी तिरस्कार नहीं करते, बल्कि प्रसन्न होते हैं।

आत्मज्ञ लोग समस्त भूत प्राणियों को अपने आत्मा में ही दर्शन करते हैं। आत्मा से पृथक् कुछ नहीं देखते हैं। सर्वभूतों में आत्म दर्शन करते हैं। समस्त प्राणियों को वे अपना आत्मा ही मानते हैं। अतः किसी से घृणा करने का प्रश्न ही नहीं आता है।

इस मन्त्र में विश्व बन्धुत्व की भावना को महत्व दिया गया है। जो महापुरुष ज्ञानी या भगवान् के भक्त हैं वे सबमें भगवान्का ही दर्शन करते हैं, वे किसी से भी घृणा नहीं करते हैं। वे समझते हैं कि संसार के प्रत्येक प्राणियोंमें भगवान्की कृपा विद्यमान है और सबमें भगवान् विद्यमान हैं, ऐसा समझकर वे किसी से भी घृणा नहीं करते बल्कि सभी से प्रेम करते हैं। निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध ।।(रा०मा०)भगवान् गीतामें अनुग्रह करते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। गीता ६।२९

योग युक्त ज्ञानी महात्मा प्रायः समदर्शी हुआ करता है। वह सभी में ईश्वर का ही दर्शन करता है। संसारके प्रत्येक प्राणियों एवं पदार्थों में भगवान् या परमात्मा का ही दर्शन करता है। इस संसार में सभी प्राणी भगवान् से उत्पन्न हुए हैं। वे चाहे कितने भी शत्रु-या मित्र हों, पर विचार करने पर सभी एक दूसरेसे पूर्ण रूपसे जुड़े हुए हैं। क्योंकि सभी लोग भगवान्‌के अंश हैं। जीवात्मा के रूपमें संसार में स्थित हैं, जो एक मालाकी धागाकी तरह एक में ही पिरोये हुए हैं।

साथ ही हमारा प्राण वायु आत्मा की सहचारिणी के रूपमें भी कार्य करता है। प्राण वायु के माध्यमसे संसार का प्रत्येक प्राणी जीवित है ! उसी के सहारे श्वास–प्रतिश्वास का संचालन होता है। अतः वायु को सूत्रात्मा कहा जाता है। परमात्मा तो जीवात्मा एवं वायु में भी व्याप्त है और परमात्मा में ही स्थिर है। वायु, सूर्य, अग्नि, चन्द्र आदि देवों की भाँति माणियों की माला की तरह गूथा हुआ है। इस सूत्रको पिरोने वाला निश्चय ही परमात्मा है। परमात्मा को वेदों में सूत्र का भी सूत्र कहा गया है—

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजाः इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्रह्मणं महत् ॥ अथर्व० १०।८।३७

जो सर्वत्र उस फैले हुये सूत्रको जानता है, जिसमें यह समस्त प्रजा पिरोई हुयी है, जो उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, वह साधक ब्रह्मतत्व को अच्छो तरह से जानता है। उस ब्रह्ममें ही यह समस्त जगत् अनुस्यूत है। समस्त प्राणी एवं पदार्थ माला की तरह पिरोये हुए हैं, जैसे माला के धागेमें मणियाँ। भगवान् गीतामें अनुग्रह करते हैं कि हे धनंजय ! इस संसारमें मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। यह समस्त जगत् मुझमें उसी तरह पिरोया हुआ है जैसे माला में मणियाँ। इसी तत्व को भगवान और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जलमें मैं रस हूँ। सूर्य तथा चन्द्रमामें प्रकाश हूँ। समस्त वेदोंमें प्रणव अथवा ॐ हूँ। आकाशमें शब्द तथा पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दःखे पौरुषं नृषु ।। गीता ७।८
बीजंमां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।। गीता ७।१०

हे अर्जुन ! मैं ही समस्त भूतोंका सनातन बीज अर्थात् कारण हूँ । और मैं ही बुद्धिमानोंकी बुद्धि तथा तेजस्वियोंका तेज भी हूँ । इस प्रकार भगवद् भक्त जब समस्त प्राणियों में भगवान् का दर्शन करता है । भक्ति, ज्ञान, वैराग्य द्वारा जब उसकी बुद्धि में समत्व आ जाता है, तो वह प्रभु का सान्निध्य अवश्यही प्राप्त कर लेता है क्योंकि उसकी दृष्टि भगवद्मयी हो जाती है । मन्त्र में इसीलिए "न विजुगुप्सते" क्रिया कही गयी है । न घृणा करता है न ही किसी में संशय करता है । जब वह घृणा संशय, एवं भयसे रहित हो जाता है और प्राणी मात्र के मंगलमें संलग्न हो जाता है तब वह भगवान्को अत्यन्त प्रिय हो जाता है क्योंकि उसके उत्थानका वह चरम उत्कर्षका समय होता है । जिसको वह अनायास ही प्राप्तकर लेता है । जिनके समस्त पाप विनष्ट हो गये हैं, जो सभी का कल्याण चाहते हैं ऐसे संयतेन्द्रिय परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाते हैं । उनको भगवान् की कृपा अथवा ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करने में संशय रह ही नहीं जाता है । इस प्रकार ऐसे ज्ञानी भक्त भी परमपद के अधिकारी हो जाते हैं और उनका जीवन संसारमें सार्थक हो जाता है ।

सप्तम मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।

यस्मिन्ह सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोह कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।। यजु० ४०।७

अन्वयार्थ–

विशेष ज्ञानी की दृष्टिमें जिस अवस्थामें जगत्के समस्त प्राणी पदार्थ परमात्ममय हो गये उस अवस्थामें एकत्व का अनुभव करने वाले उस ज्ञानी को कौन मोह? और कौन शोक? अर्थात् उसे किसी प्रकार का मोह शोक नहीं होता है ।

भाष्य—

ज्ञानी पुरुष की दृष्टिमें समस्त जगत् परमात्मा के रूपमें ही भासित होता है। जिस योगीको दृष्टिमें समस्त चराचर जगत् भगवद्रूप दिखाई पड़ता है उसको शोक और मोह दोनों नहीं होते । ऐसे महा-पुरुष को परमात्माके अतिरिक्त संसारमें कुछभी नहीं दिखाई पड़ता।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।। (सामवेद)

भूत भविष्य वर्तमान, तीनों अवस्थामें वही पुरुष ही विद्यमान था । उस ब्रह्मके केवल एक पाद (अंश) से समस्त सृष्टिका निर्माण हुआ है और उसके तीन पाद द्युलोक में अपने अमृत स्वरूप में स्थित है । ब्रह्म की सत्ता बहुत बृहद है । यह ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म का केवल एकांश है ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म-समाधिना ।। गीता ४।२४

ब्रह्म ही कर्म है । ब्रह्म कर्म में समाधिस्थ ब्रह्मवेत्ता योगी के लिए हवि अर्पण करने वाले उपकरण, अग्निमें जलने हेतु हवि तथा अग्नि सब ब्रह्म रूप ही कहा गया है । हवन क्रिया भी ब्रह्मरूपमें ही वर्णित की गयी है । समाधिस्थ योगी का गन्तव्य भी ब्रह्म ही है । ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वञ्चप्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।
[मुण्डक उ० २।२।११]

हमारे समक्ष यह अमृत ब्रह्म है। ब्रह्म ही आगे और पीछे है। ब्रह्म ही दाहिने और ब्रह्म ही बायें है तथा नीचे ऊपर भी ब्रह्म ही है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है ।

ब्रह्मतत्व की व्याख्या छान्दोग्योपनिषद्में बहुत सुन्दर की गयी है। यह आत्माही आगे, पीछे, उत्तर, दक्षिण सर्वत्र आत्माका ही विस्तार

है "आत्मा एवं अधस्तात्, आत्मा उपरिष्टाद्, आत्मा पुरस्ताद् आत्मा दक्षिणतः" ।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र का तात्पर्य बड़ा विलक्षण है । जो साधक संसार के प्रत्येक कण एवं क्षणमें अपने प्रभुका ही दर्शन सर्वत्र करता है वह संसारसे निर्भय है । मोह, शोकके लिए उसके जीवनमें अवकाश ही नहीं रह जाता है । भगवत् अनुभूति होनेके पश्चात् शोक एवं मोह भक्त को बाधित कर ही नहीं सकते हैं । मोह एवं शोक, तथा भय उन्हीं लोगों को बाधित करते हैं जो संसार के ही विषयों, क्रियाओंमें बँधे हुए हैं। जो इससे ऊपर उठ चुके हैं उनको किसी काल में ये मनोविकार अनुबन्धित नहीं कर सकते । इस प्रकार आचार्योंने अपनी-अपनी अनुभूति भिन्न-भिन्न तरह से की है । शोक एवं मोह तो सगे सहोदर हैं । जब हृदय संकुचित हो जाता है तभी मोह, शोकसे बँधता है । आत्मा शब्द पर विचार करनेसे उसके कई एक अर्थ निकल आते हैं । इसका विचार निरुक्तकार ने कई प्रकारसे किया है—

"**योऽतति व्याप्नोति स आत्मा**" जो समस्त जगत्में निरन्तर व्यापक हो रहा है वह आत्मा है । उणादिमें सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (४।१५४) की व्याख्यामें लिखा गया है—**अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति, व्याप्नोति वा स आत्मा ।** निरन्तर कर्मफल प्राप्त करने के कारण आत्मा शब्दका अर्थ जीवात्मा होता है । सर्वत्र व्यापक होनेके कारण आत्मा शब्द का दूसरा अर्थ परमात्मा होता है ।

आत्माऽततेर्वा, आप्तेर्वा अपि वा इव स्यात् यावद् व्याप्तीभूत इति ।

(क) आत्मा=अतते, आत्मा संतत गतिमान हैं, सक्रिय है ।

(ख) आप्तेःवा=आत्मा सर्वव्यापक है ।

(ग) आप्त इव स्याद् व्याप्तीभूत इति । यद्यपि जीवात्मा सर्व व्यापक नहीं है पर जितना व्याप्तीभूत है उससे वह व्याप्तकी तरह है । इसका तात्पर्य है कि यह जीव जितना सूक्ष्म या बृहद् रूपमें विद्यमान रहता है उस शरीरके प्रत्येक रोम में जीवात्माकी शक्ति व्यापक रहती है ।

आत्मा शब्द अत सातत्यगमने धातु से मनिन् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है। अतः शाब्दिक अर्थ है–सतत गतिशील, प्रयत्नशील तथा प्राप्त करनेकी चेष्टा वाला। गतिके प्रमुख रूपसे तीन अर्थ होते हैं, गम्यते, ज्ञायते, प्राप्यते। अर्थात् मार्गमें जाना या चलना, जानना, और प्राप्त करना। संसार शब्दका तात्पर्य गतिमान होता है, जो सदा चलता रहे। **संसरति गच्छति इति संसारः**। यह संसार परिवर्तनशील है सनातन प्रवहमान है। 'विषूचीना विश्वगामिनी' सर्वत्र गमन करने वाले, वियन्ता बहुगामिनी–नानाप्रकार के गमन करने वाले हैं। इसका तात्पर्य है आत्मा तथा शरीर संसार में भिन्न-भिन्न रूप से चलने वाले हैं। कोई रेंगता है। कोई कूदता है। कोई फुदकता है। कोई उड़ता है।

अतः जीवात्मा बहुगामी कहा गया है। वैसे कोई धरती पर कोई जल में चलता है अतः विश्वगामी कहा जाता है। गमन में भी विविधता है। उसीके अनुसार सभी लोगों को क्रियायें हैं। आत्मा तथा परमात्मा में अनेक गुण भिन्न-भिन्न हैं और कुछ समान भी हैं ऐसी स्थितिमें विचार करने पर ज्ञात होता है—आत्मा–परमात्मा परिभाषा और मात्रा भेद मात्र स्वीकार किया जा सकता है अतः परमात्मा में पिता-पुत्र का सम्बंध है। आत्मा एवं परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु या तत्व है ऐसा नहीं जान पड़ता। यह बात अनेक वेद ग्रन्थों में वर्णित किया है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। (गीता १५।७)

इस शरीर में जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। वही प्रकृति में स्थित मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को आकर्षित करता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः।।
(अथर्व० १०।८।२७।)

हे प्रभो! आप ही स्त्री हैं आप ही पुरुष एवं कुमार तथा कुमारी हैं। आप ही वृद्ध होने के कारण दण्ड के सहारे चलते हैं। इस संसार के समस्त प्राणी आप ही के स्वरूप हैं और आप ही उत्पन्न होते हैं।

अतः इस संसार में जो भगवान् की उपासना करते हैं उनकी ही उच्चावस्था की स्थिति बन पाती है। यह जीव परमात्मा से ही उत्पन्न होने के कारण अमृतपुत्र भी कहा जाता है। यह उस परमात्मा की ओर अग्रसरित हुआ था परन्तु माया तथा प्रपञ्च से प्रभावित होकर अपना वास्तविक लक्ष्य भूल सा गया। अतः अनन्त जन्मों से भवाटवी में भटक रहा है। उसके उबरने का अवसर ही नहीं प्राप्त हो पाता है। अनन्तकाल से यह आत्मा, परमात्मा से मिलने के लिए लालायित है पर उसको ऐसा सत्य अवसर नहीं मिल पाता कि अपने जीवन को वह निहाल कर सके।

आत्मा यद्यपि परमात्मा से ही प्रकट हुआ है, वह उसी का पुत्र है। अतः अपने दयालु पिता से मिलने के लिये यह सदैव उत्कण्ठित रहता है। वहाँ पहुँचने के लिए यह सदैव व्याकुल रहता है। उसके सान्निध्य के लिए यह सदैवरत रहता है परन्तु—यह गुण साधन ते नहिं होई। तुम्हरिहिं कृपा पाव कोइ कोई।। जब तक उसकी कृपा नहीं होती तब तक उसका सान्निध्य मिल पाना अत्यन्त कठिन है। अतः भक्त सदैव इसीमें प्रयत्नशील रहता है कि प्रभु का दर्शन कब हो जाये।

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

काठकोपनिषद् १।२।२३

यमराज नचिकेता से कहते हैं कि यह आत्मा न प्रवचन न बुद्धि से और न बहुत ज्ञानोपदेश अथवा श्रवण करने से प्राप्त होता है, यह जिसे स्वीकार कर लेता है उसीके लिये अपने स्वरूप का प्रकाशन करता है अर्थात् उसी भक्त या उपासक को भगवद् दर्शन होता है। उसी का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में किया गया है। वेदों में इसीलिए आत्मा एवं परमात्मा के सम्बन्ध की चर्चा की गयो है। आत्मा का विस्तृत वर्णन माण्डूक्योपनिषद् में किया गया है। **नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारप्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। (माण्डूक्य० ।७।।)** वह न अन्तर प्रज्ञा-

वाला और न बाहर की ओर प्रज्ञावाला, न भीतर न बाहर दोनों ओर प्रज्ञा वाला, न उत्कृष्ट प्रज्ञा वाला, न प्रज्ञावाला न प्रज्ञा रहित, अदृष्ट, व्यवहार में न आने वाला, आग्रह्य एवं सभी लक्षणों से रहित अचिन्त-नीय अनिर्वचनीय एकात्मप्रत्ययसार वह केवल आत्मा है। यह प्रतीत जिसका सार है, जाग्रत् आदि अवस्थायें जहां शान्त हो जाती हैं। यह शान्त कल्याणमय एवम् आनन्दमय अद्वैत तुरीय पाद माना जाता है।

हृदय की ग्रन्थियां जब समाप्त हो जाती हैं, समग्र संशय समाप्त हो जाते हैं और जीवात्मा के सम्पूर्ण कर्मों का जब क्षय हो जाता है, तभी भगवद् दर्शन होता है। ज्ञानी पुरुष समस्त संसार आदि में अच्छी तरह घूमकर देख लेता है। अनन्त महिमा उसके भिन्न-भिन्न रूप, तथा उसके द्वारा बनाया गया यह जगत दिखाई पड़ता है, जब उसे ज्ञान होता है कि ब्रह्म की सत्ता सूत्रात्मक रूप से सर्वत्र व्याप्त है, वही सभी प्राणियों, पदार्थों, लोकों कलाओं आदि को एक शक्ति में पिरो-कर समन्वित कर इस काल चक्र एवं संसार चक्र को व्यवस्थित रूप से संचालित कर रहा है। ब्रह्मज्ञानी को जब ब्रह्म का दर्शन हो जाता है तो उसमें वह विलीन हो जाता है। पर ब्रह्म या भगवान् का दर्शन जब किसी भक्त को हो जाता है तो वह अपने स्वामी की सेवा एवं सान्निध्य प्राप्त करता है। अद्वैत में आत्मा एवं परमात्मा का तब कोई भेद नहीं रह जाता है। द्वैत भाव ही समाप्त हो जाता है। पर भक्त तो प्रभु कृपा का दर्शन करके कृतार्थ होता है और उसका जीवन सफल हो जाता है।

अष्टम मंत्र

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषी-परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

(यजुर्वेद ४०।८।)

अन्वयार्थ—(स परि अगात्) वह सर्वव्यापक, (शुक्रम्) वीर्यवान् सर्व शक्तिमान् तेजस्वी, (अकायम्) शरीर रहित निराकार, (अव्रणम्) किसी प्रकारका घाव या छिद्र आदि से रहित (अस्नाविरम्) स्नायुतन्तु से रहित, (शुद्धम्) पवित्र (अपापविद्धं) पाप रहित, कविः=कान्तदर्शी

सर्वद्रष्टा या विद्वान्। (मनीषी) **मनीषा अस्ति अस्मिन्** इति मनीषी-मन पर शासन करने वाला अथवा विचारक (परिभूः) परितः भवति इति परिभूः, कण-कण में अभिव्याप्त, (स्वयम्भूः) स्वयं भवतीति-स्वयम्भूः=स्वयं ही प्रकट होने वाला स्वयं अपनी ही सत्ता या शक्ति से स्थिर रहने वाला, (शाश्वतीभ्यः) अनादि कालसे (याथातथ्यतः) यथार्थ भावसे (अर्थान् व्यदधात्) समस्त पदार्थों अथवा कार्योंकी व्यवस्था करता है। अथवा समस्त जीवों के कर्म फलों का विधान करता है।

भाष्य

इस मन्त्र में भगवान् के स्वरूप का विशेष रूपसे वर्णन किया गया है। वह ब्रह्म सविशेष और निर्विशेष उभय पक्षीय शरीर वाला है। सर्व शक्तिमान्, परम तेजस्वी, निराकार शरीरसे सम्बन्धित, किसी घाव अथवा छिद्रादि दोषोंसे सर्वथा रहित, स्नायुतन्तु आदिसे रहित, परम पवित्र, कान्त दर्शी, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, मनीषी, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता एवं स्वयंभू है। तथा समस्त पदार्थों एवं कार्यों की यथायोग्य ठीक-२ व्यवस्था करता है। अथवा जीवों के कर्मफलों का यथायोग्य समुचित विधान करता है—भगवान् अपनी अनन्त सम्पदा एवं कृपाका वितरण यथोचित रूपसे करते हैं। यजुर्वेद में स्पष्ट वर्णन किया गया है।

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्॥

(यजुर्वेद ३०।४)

इसकी विचित्र रचनाके साथही भगवानने इसमें अनेक प्रकार की सम्पदा की भी व्यवस्था की है। इसमें विविध प्रकारके वैभव एवं पदार्थों का यथोचित विभाग करने वाले समस्त जीवों और उनके कर्मों के यथायोग्य फल देनेका पूर्ण विस्तार किया है। समस्त प्राणियों को उत्पन्न करके उनका पालन-पोषण करने वाले परम दयालु प्रभुकी हम शरण ग्रहण कर उनकी उपासना करते हैं। इसमें शरणागति का वर्णन किया गया है।

भगवान् की समृद्धि अनेक प्रकारकी और अत्यन्त है। उसकी सीमा कहीं भी निर्धारित नहीं की गयी है। उन प्रभु के सहस्रों दोनों में

स्वास्थ्य, आयु सुख, जीवन साथी, संतान, कीर्ति, तेज, ज्ञान आदि तथा वायु, जल, अग्नि आदि अगणित पदार्थ हैं। इनका यथायोग्य विभाजन तथा प्रबन्ध भगवान्के शाश्वत अपरिवर्तनीय सत्य नियमों के अनुसार होता है। वह शारीरिक व्यवस्था भी करता है। शरीरमें कौन अंश कहाँ होने चाहिये तथा सूर्य, वायु, चन्द्रका उदय-अस्त चलन आदि की व्यवस्था भी वही करता है। प्रकृति वन, पहाड़, नदियाँ, समुद्र, बृक्ष इन सबकी व्यवस्था उस सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर ब्रह्म का स्वाभाविक सामर्थ्य है। इसका वर्णन उपनिषद् में पूर्णरूप से किया गया है।

स पर्यगात्-परितः सर्वतः अगात् गतवान् प्राप्तवान् अस्ति। वह ब्रह्म सर्वव्यापक है। वह जगतके प्रत्येक परमाणु में व्याप्त है।

अर्थात् जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई इस संसार में उत्पन्न नहीं हुआ। जो अन्तर्यामी रूप से सम्पूर्ण समष्टि में अभिव्याप्त है। इस प्रकार १६ कलाओं से युक्त समस्त जगत् के पालनकर्त्ता, तथा सभी प्राणियों को सुख प्रदान करने वाला, तीन प्रकारके ज्योतिके रचयिता, सम्पूर्ण प्रजा को जीवन प्रदान करने हेतु संलग्न हुआ है।

इन १६ कलाओंका पूर्ण विवरण प्रश्नोपनिषद् में निम्न प्रकार से किया गया है—

स प्राणमसृजत् प्राणात् श्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च। प्रश्न० ।६।४।।

उस परमात्मा ने प्राण को उत्पन्न किया तथा क्रमशः श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, अन्नसे वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा लोकों में नाम उत्पन्न किया।

अतः श्रुति भगवती अनुग्रह करती है कि ईश्वर वीर्यवान् और शुद्ध है।

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि ! स यथा त्वं भ्राजता
भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ।। अथर्व० १७।१।२०।।

हे प्रभोः ! आप वीर्यवान् प्रकाशमान शुद्ध तथा परम तेजस्वी हैं। हे प्रभो जिस प्रकार आप तेजसे परिपूर्ण हैं उसी प्रकार मैं तेजस्वी बनूं, प्रकाशित होता रहूँ तथा मेरा समग्र जीवन ज्योतिर्मय हो।

अकायम्, अव्रणम् अस्नाविरम् अर्थात् परमात्मा शरीर रहित एवं शरीर सहित दोनों है। शरीर न होने से उसमें व्रण (घाव) आदि विकार नहीं होते और उसमें न कोई स्नायु आदि सम्भव है। अपनी कृपा द्वारा जब सकायम् होता है तो स्नायु आदि भी सम्भव हो जाते हैं।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥
[कठोपनिषद् १।३।१५]

जो अक्षर ब्रह्म तीनों कालमें है, जिसका कभी भी नाश नहीं होता क्योंकि अक्षरों का समूह ही शब्द के रूपमें परिणत होता है। प्राकृत कर्णों द्वारा जिसका श्रवण नहीं किया जा सकता, शरीर रहित होनेके कारण जिसका स्पर्श नहीं किया जा सकता, रूपरहित होने के कारण जिसका दर्शन नहीं किया जा सकता, जो अविनाशी नित्य तथा एक रस रहने वाला अनादि अनन्त श्रेष्ठतम तथा ध्रुव है। महत्तत्व से भी श्रेष्ठ एवं ध्रुव है। उस परमपिता परमात्मा का ज्ञान कर लेने वाला अथवा भजन के द्वारा उसकी कृपा की अनुभूति कर लेने वाला भक्त, साधक संसारमें धन्य तथा कृतार्थ है। वह मृत्युसे छुटकारा पा जाता है। तथा उसका समग्र जीवन सार्थक हो जाता है। भगवत्शरण की चर्चा उपनिषदों में अनेक बार की गयी है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्। श्वेत० ३।१७

भगवान्में सभी इन्द्रियों का अथवा गुणोंका आभास होता ही है। वही तीनों गुणों को उत्पन्न करके तथा उनकी प्रकृति के साथ संयुक्त करके समस्त सृष्टि का नियमन करता है। सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त होने परभी परमात्मा सबसे रहित है। वह चराचर सभी प्राणियों का स्वामी है। तथा सबका शरण एवं आश्रय है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्चत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
[श्वेताश्व० ३।१९]

वह सबको जानता है। वह अग्रणी एवं महान् पुरुष है। वह सर्वनियन्ता है। वह सर्वथा कार्यकारण रहित तथा इन्द्रियोंसे भी रहित है।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

[श्वेत० ६।८]

इस मन्त्रसे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्को ज्ञान, बल, क्रिया आदिके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। अपने आप सम्पादन होता रहता है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमव्रणमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ (मुण्डक १।१।६) वह परमात्मा समस्त शक्ति एवं ज्ञान इन्द्रियोंसे परे है, जो मानवके पकड़ के बाहर है। जिसका कोई नाम, गोत्र, वर्ण, आदि नहीं हैं। जिसकी कोई इन्द्रियाँ भी नहीं हैं। जो हस्त, पाद रहित सर्वत्र व्याप्त एवं अत्यन्त सूक्ष्म है, उस सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक समस्त संसारकी उत्पत्ति के कारण परब्रह्मको धीर लोग सर्वत्र देखते हैं। यहाँ "धीराः भगवद् भक्ताः साधकाः वा" भगवान्के भक्त अथवा साधक सर्वत्र उस परमात्मा को देखते रहते हैं। एकक्षण के लिए भी भगवान् भक्तसे अदृश्य नहीं होते।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता)

उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि वह परमात्मा व्यापक होते हुए भी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए इस धराधाम पर अवतरित होताहै और सभी आश्रितोंके नेत्रोंका विषय बन जाता है। जैसे महाराज दशरथ,जनक, शरभङ्ग, शबरी, सुतीक्षण, मतङ्ग, अगस्त्य, वशिष्ठ आदिके नेत्रोंका विषय बना और उसका आनन्द भी लोगोंने ग्रहण किया। अतः मूलमें (धीराः) पद आया। जो लोग भक्तिपूर्वक भगवद्दर्शन को आशा लिए बैठे थे उनको दर्शन अवश्य हुआ। अवध वासियों को विशेष रूपसे वह बाँकी झाँकी प्राप्त हुयी जिसकी हृदयस्थ

करके भगवान शिव सदा सुखी रहते हैं। महाराज जनकजी ने भगवान् से कहा कि आप बहुत थोड़ेसे स्नेह पर ही रीझ जाते हैं।

मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम रीझउ सनेह सुठि थोरे।। रा०मा०

बृहदारण्यकोपनिषद में यह रहस्य अत्यन्त समारोहके साथ उपस्थापित किया गया है—

स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्व-ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्ध-मचक्षुष्कम् श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमुखममात्रमनन्तरमबाह्य न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ।। बृहद्० ३।८।८

इस मन्त्रमें याज्ञवल्क्य और गार्गी की वार्ता का वर्णन किया गया है। ब्रह्मको अक्षरके रूपमें स्वीकार किया गया है। 'त्रिषु कालेषु न क्षीयते इति अक्षरम्' अतः वह अविनाशी है। न मोटा है और न सूक्ष्म है। वह लघु और बृहद भी नहीं है। किसी रङ्ग विशेष को भी धारण नहीं करता। स्नेह रहित तथा अन्धकार रहित है। वह आकाश, वायु आदि भी नहीं है। वह अङ्ग रहित, रस रहित, नेत्र रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित, मन रहित, तेज और प्राण रहित मुख और माया रहित है। अन्दर बाहर न कुछ वह खाता है और उसे भी कोई नही खाता है। इसप्रकार ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन किया गया है। पुनरुपि इस मन्त्रमें नाम उपासना विद्यमान है। इस रहस्य को साधक भक्तही जान सकता है। परा, पश्यन्ती मध्यमा वाणी द्वारा योगी लोग उस परमात्माको प्राप्त करते हैं। भक्त तो सदा भगवान् का ही साहचर्य ग्रहण करता है। नाम रूप लीला धाम का चिन्तन करता हुआ अपना समय यापन करता है।

न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसी दित्येषा यस्मान्नजातऽइत्येष।।

[यजुर्वेद ३२।३]

इसमन्त्रमें साकार वर्णन उपलब्ध है। जिस परमात्माका नाम महान् यशको प्रदान करने वाला है अथवा जिस परमात्माकी कीर्ति

में विस्तारसे विद्यमान है और जिसका वर्णन हिरण्यगर्भः आदि मन्त्रों द्वारा सदैव किया जाता है। जीव मायासे अभिभूत होकर ही परमात्मा को पहचान नहीं पाता।

तब माया बस फिरउँ भुलाना। तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना।
नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा।।
समदर्सी मोहिं कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।।

[रा० मा० कि०]

संसार उसी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है और उसी के द्वारा संचालित है तथा अन्तमें उसीमें इसकी विश्रान्ति भी है। उसकी निर्हेतुकी कृपा जीव पर अवश्य होती है, नहीं तो अपने ज्ञानसे संसारका कोई प्राणी एकक्षण जीवित नहीं रह सकता है। वह परमात्मा अप्रतिम है उससे अन्य कोईभी नहीं है। वह मूर्त अमूर्त्त दोनों है। जैसी अनुभूति हम कर सकें वैसा ही दर्शन होता है। गोपियोंको भगवान्का दर्शन सदा अपने पासकी गौओं और दोहनी तथा अञ्चलमें भी होता था। जैसे अपने प्रभुको हम हृदयमें ले पावें। श्रुतियोंने तो उपासना,भक्ति, प्रपत्ति आदि सभीका वर्णन साङ्गोपाङ्ग किया है। हमारी साधना कितनी बलवती है यह विचार साधक को स्वयं करना पड़ेगा। निर्मल हृदय में भगवान्का निवास होता है। ज्ञानियों का ज्ञानभी अन्तिम क्षणमें भक्तिका ही रूप ग्रहण कर लेता है, तभी भगवत् कृपाकी वर्षा होती है और जीव निहाल हो जाता है। यही जीवकी कृतार्थता है।

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या, यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानत।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान, कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

[यजुर्वेद १२।१०२]

जो सत्य रूप धर्मको धारण करने वाला परमात्मा पृथिवीको उत्पन्न करने वाला है। जो आकाश पृथिवी जल, वायु, चन्द्र, को भी उत्पन्न करने वाला है। उस परमकृपालु प्रभुके द्वारा हम दुःख या ताप को न प्राप्त करें तथा हममें किसी प्रकारका विक्षोभ भी उत्पन्न न हो इस प्रकार सदा सुख रूप प्रभुकी अपने शुद्ध अन्तःकरणसे उपासना करें क्योंकि वह आनन्द सिन्धु है। सुख निधान है।

जो आनन्द सिन्धु सुख राशी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी ।।
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा ।।
(रा० मा०)

वह प्राकृत शरीर से सदैव रहित है।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।। (श्वेत० ४।१६)

उस प्रभु का महान यश है। तथा वह परम यशस्वी है। जिसके नाम का यश समग्र संसार में व्याप्त है, उसके नाम, स्मरण, कीर्तन, आदि महान् यश को प्रदान करने वाले हैं। उसकी मूर्ति अथवा आकृति हो या न हो उसके नाम से उच्चरित वाणी उसके पास अवश्य पहुँच जाती है। वह शरीर में भी स्थित होता है तो भी कोई कर्म करणीय नहीं रह जाता है। क्योंकि वह किसी कर्म में लिप्त नहीं होता।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।
(गीता० १३।३१)

श्रीकृष्ण कहते हैं अर्जुन ! गुणातीत होने के कारण भगवान् किसी में भी लिप्त नहीं होते। शरीर धारण करने पर उसमें मोह या आसक्ति नहीं होती।

जिस प्रकार सूर्य समस्त संसार का चक्षु होने से समस्त प्राणी उसी के द्वारा दर्शन क्रिया का सम्पादन करते हैं, परन्तु सूर्य नेत्र के दोषों से कभी लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सर्वनियन्ता जगदाधार परमात्मा अन्तर्यामी रूप से सब में स्थित होते हुए भी किसी में लिप्त नहीं होता और पृथक् भी नहीं होता।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु,
न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।
(कठ० उ० १।२।११)

कुङ् शब्दे धातु से कवि शब्द की निष्पत्ति होती है। गीतामें कवि का अर्थ पुराण एवं अनुशासित किया गया है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयान्समनुस्मरेद्यः।
सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
(गीता० ८।९)

भगवान् सर्वज्ञ, पुरातन, अनादि, सर्वनियन्ता तथा शासक है सबको धारण पोषण करने वाला, सभी प्राणियों को उनके कर्मानुसार फल देने वाला है, अचिन्त्य स्वरूप सूर्य के समान देदीप्यमान, नित्य प्रकाशमय वर्ण वाले अज्ञान रूप अन्धकार से सर्वथा परे परमात्मा का स्मरण करता हूँ। इस प्रकार वेद प्रतिपाद्य परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी एवं सर्व का नियमन करने वाला है। अतः कवि का तात्पर्य वेद में ईश्वर ही किया गया है। वेद भगवान् अनुग्रह करते हैं कि हे प्रभो! तुमसे अधिक श्रेष्ठ संसार में कोई भी नहीं है। तुमसे धीर वीर भी कोई नहीं है।

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया,
धीरतरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ,
सा चिन्नु त्वज्जनो मायी विभाय॥
(५।११।४)

इस मन्त्र में परमात्मा की सर्वज्ञता का वर्णन किया गया है। वह ईश्वर सभी भुवनों का ज्ञाता है। सर्वज्ञ है। इस संसार में छल छद्मकारी कपटी मनुष्य भगवान् से सदैव भयभीत रहते हैं। जो कुटिल होगा वह ईश्वर से अवश्य डरता रहेगा।

वह ईश्वरों का भी ईश्वर देवों का देव और रक्षकों का भी रक्षक है। समस्त भुवनों का स्वामी और वह सर्वत्र ईड्यं है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं,
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्,
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥१।६।७॥

उससे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। सम्पूर्ण विश्व में उस ईश्वर का अन्य कोई स्वामी नहीं है। उस पर अनुशासन करने वाला भी कोई नहीं है। उसका कोई चिह्न नहीं है। वह समस्त उपकरणों आदि के अधिष्ठाताओं का भी अध्यक्ष है। उसका न तो कोई जनक है, और न स्वामी है।

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके,
न चेशिता नैव न तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधियो,
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥
(श्वेत० ६।६)

(शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतो व्यदधात्)

वह अनादि काल से संसार का नियमन करता चला आ रहा है। इस समस्त संसार की उत्पत्ति पालन जीवन कब और किस प्रकार व्यवस्थित हो इस सब का पूर्ण प्रबन्ध वहीं करता चला आ रहा है।

मातृकुक्षि में शिशु का निर्माण पोषण और जनन, वीज से अंकुर निकालना और उसकी जीवन शक्ति की सुरक्षा समग्र जीवन चक्र का संचालक वही परमात्मा ही है। उसका शासन अपने ठीक समय पर होता है। इसमें लेशमात्र की भी त्रुटि होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्यथा यह समग्र ब्रह्माण्ड एक क्षण में नष्ट हो जाये। इस प्रकार विलक्षण सामर्थ्यशाली नियंत्रक, शिक्षक एवं व्यवस्थापक है।

अतः श्रुति भगवती उसी अक्षर ब्रह्म की उपासना करने का आदेश देती है। ब्रह्मसूत्रकार कहते हैं— **आमनन्ति चैनमस्मिन्** १।२।३२। वह ब्रह्म सर्वथा उपास्य है। हम उसका ज्ञान नहीं कर पाते, यह हमारा अज्ञान ही कारण है। माया का आवरण (अज्ञान का पर्दा) हमारे नेत्रों पर पड़ा है, जिससे हम उसकी कृपा का परिज्ञान नहीं कर पाते। संसार के राग-द्वेष से जब हम विमुक्त हो जाते हैं तो उसका दर्शन हो पाता है या उसकी कृपा का अनुभव भी होता है। उपनिषद में इस विषय का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है जैसे बहती हुयी

नदियाँ समुद्र में जाकर मिल जाती हैं उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में लीन हो जाता है। ज्ञानी पाप, पुण्य दोनों से ऊपर उठकर ब्रह्म को प्राप्त करता है। अतः मुक्त जीवों का जो प्राप्य है वही ब्रह्म है। वही सम्पूर्ण आकाश आदि लोकों का आयतन है। उसके लिए शब्द या किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं है। वह किसी भी कर्म बन्धन से नहीं बँधता। ब्रह्मविद् प्रत्येक कण में उस परमात्मा का ही दर्शन करता है। वह सर्वनियन्ता सर्वाधार और सबका स्वामी है। प्राणियों के ऊपर उसकी अहेतुकी कृपा है, उसके कर्मानुसार समस्त पदार्थों की यथायोग्य रचना भी उसी ने किया है। उससे भिन्न संसार में कुछ भी नहीं है।

उसी प्रकार भक्त भगवान् को अवश्य प्राप्त करता है। भगवान् गीता में स्वयं श्रीमुख से अनुग्रह करते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो माम् तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

(गी० अ० १८)

अतः भगवान् स्वयं अनुग्रह पूर्वक कहते हैं कि अपना मन मुझसे युक्त करलो और मेरा भक्त हो जाओ। मुझे ही तुम नमस्कार भी करो। तुम मेरा प्रिय होने से अन्त में मुझे ही प्राप्त हो जायेगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी माम् नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

(गीता १८।६६)

भक्त भगवान् का अत्यन्त प्रिय होता ही है, और वह अहर्निशि भगवत् चिन्तन ही करता है। उसका अन्य कोई भी व्यापार नहीं होता है। यही सिद्धान्त भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने अपने श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर में विशिष्टाद्वैत का तात्पर्य सिद्ध किया है। उनके अनुसार ब्रह्म रामजी शेषी हैं और जीव शेष है। अचित् तत्व माया भी ब्रह्म का शेष है। चित् अचित् विशिष्ट पदार्थ है। विशेष्य विशेषण का नित्य सम्बन्ध है। अर्चा अवतार में भेद होते

हुए भी अभेद है ब्रह्म पद वाच्य भगवान् श्रीराम ही हैं। उनसे जीव का सम्बन्ध सदा ही बना रहता है, कभी किसी काल में भिन्न नहीं होता। अतः गीता में **"मामेवैष्यसि, प्रियोऽसि मे, सत्यं ते प्रतिजाने"** यह भगवान् स्वयं अनुग्रह करते हुए कहते हैं। 'मैं भगवान् का हूँ' इस प्रकार अपनी अहंता को समाप्त कर देनी चाहिये क्योंकि इसके रहने पर साधन कर पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतः सर्वप्रथम मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं। मैं संसार का नहीं हूँ और संसार भी मेरा नहीं है, ऐसी वृत्ति आ जाने पर **"मन्मना भव"** तो सहज ही में हो जाता है। क्योंकि जो अपना होता है वह स्वाभाविक ही प्रिय लगने लगता है।

मद्याजी—संसार का प्रत्येक कार्य भगवान् का मानकर करना ही भगवत् सेवा है।

मां नमस्कुरु—भगवान् के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके सर्वतोभावेन समर्पित हो जाये, जीवन में सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल जो स्थिति आ जाय उसे भगवान का कृपा-प्रसाद मानकर अति प्रसन्न रहे और यह विचार आता रहे कि भगवान् का जो भी विधान होगा, मेरे लिए अच्छा ही होगा। भगवान् कहते हैं– ऐसा मेरा भक्त होने पर पूजन, अर्चन, वन्दन सब करते हुए अन्त में मुझे ही प्राप्त होता है अथवा मेरे में ही निवास करता है क्योंकि तू मेरा प्यारा है। तो इस प्रकार भक्त श्रीभगवान् को ही प्राप्त करता है। अतः यह संसार प्रति क्षण बदलने वाला अनित्य एवं परिवर्तनशील है और जीव नित्य अपरिवर्तनशील है। जीव की यह अज्ञानता है कि इसे नित्य मान लेता है। सम्बन्धी के न रहने पर भी उसका माना हुआ सम्बन्ध बना रहता है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही दुःख का कारण होता है।

अतः इस माने हुए सम्बन्ध का त्याग करने पर जिस प्रभु से हमारा नित्य सम्बन्ध है उनकी शरण में जाना ही जीव का परम धर्म ही होना चाहिये।

नवम मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृदनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः।।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायां रताः।।

(यजुर्वेद ४०।१२)

अन्वयार्थ—(ये अविद्याम् उपासते) जो असत् कर्मों की उपासना करते हैं। अर्थात् इस संसार में असत् कर्मों में अहर्निश रत हैं, वही अविद्या की उपासना करते हैं। **(अन्धन्तमः प्रविशन्ति)** अर्थात् वही लोग घोरतम अन्धकारमें प्रविष्ट होते हैं। उन्हींका जीवन अन्धकार की ओर प्रेरित है। **(ततो उ भूय इव ते तमः)** परन्तु वे लोग उनसे भी अधिक अज्ञान की शरणमें जाते हैं जो मात्र विद्यामें ही रत हैं।

भाष्य——

यह मन्त्र अपने आपमें अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके वास्तविक तात्पर्य का ज्ञान न होनेके कारण आज लोग घोर अज्ञान की ओर चले जा रहे हैं। यहाँ विद्या एवं अविद्या की जो महत्वपूर्ण चर्चा की गयी है, सही अर्थमें ये दोनों पदार्थ क्या हैं यह चिन्त्य है। उपनिषदोंमें विद्या की परिभाषा बड़ी सहेतुक की गयी है।

१— **(सा विद्या या विमुक्तये)** यहाँ चारों पद अपना विशिष्ट स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। वह विद्या या ज्ञान वास्तविक है जो हमें आत्म-विमुक्ति या आत्म प्रकाश की ओर अभिप्रेरित करती है।

२— वि पूर्वक दो अवखण्डने धातुसे विद्याशब्द की निष्पत्ति होती है। विषरूपी अज्ञान का विखण्डन करके अमृतरूपी ज्ञानको संचरित करने वाली वृति को विद्या की संज्ञा दी गयी है। **(विद्ययामृतमश्नुते)** अमरत्व विद्यासे ही प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य है किसी भी परिस्थितिमें ज्ञानी उद्विग्न नहीं होता, संसारमें यही अमरत्व अथवा मोक्षप्राप्ति है।

३— परा विद्या एवं अपरा विद्या ये दो प्रकार की विद्यायें संसार प्रसिद्ध हैं। परा विद्याके द्वारा हमें भगवत् तत्व का परिज्ञान होता है। अपरा विद्यासे सांसारिक क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा आत्मिक सुख प्राप्त नहीं होता। जैसे गणित, आधुनिक विज्ञान, भूगोल, इतिहास, साहित्य, अर्थशास्त्र आदि अविद्या ही हैं। इसके द्वारा आत्म-तत्व का ज्ञान नहीं होता है।

संसारमें प्रमुख रूपसे तीन तत्वों का निरूपण किया गया है— परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति। पूरी सृष्टि का विस्तार इन्हीं तीन तत्वों द्वारा होता है। अतः विद्या या ज्ञान इन्हीं तीन से सम्बन्धित होना चाहिये।

परा विद्याके द्वारा जीव परमात्मासे जुड़ता है। इसीके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति (भगवत्सान्निध्य) आदि सम्पन्न होते हैं।

इसके विपरीत अपरा विद्या है जो प्रकृति तथा संसारके भिन्न-२ क्रिया कलापोंसे सम्बन्धित है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक विद्या जैसे ज्योतिष नक्षत्र विज्ञान, टेक्नोनालोजी इलेक्ट्रानिक्स कम्प्युटर, साइन्स, अर्थशास्त्र आदि सभी अपरा विद्याके अन्तर्गत आते हैं।

मन्त्रमें उसी की चर्चा है कि इस संसारमें जो अपरा विद्या की उपासना करते हैं वे लोग (**अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते**) घोर अन्धकारमें प्रविष्ट होते हैं क्योंकि अपरा विद्या की उपासनाके द्वारा सांसारिक सुख की प्राप्ति तो हो सकती है परन्तु आत्मिक सुख नहीं। संसारमें आकर सच्ची शान्ति यदि न प्राप्त हो तो जीवन सार-हीन है। आज देश की स्थिति इसी प्रकार की है। पाश्चात्य सभ्यताके चकाचौंधमें हम अपने को उन्नत एवं सभ्य मान रहे हैं, पर यह बात नहीं। अन्दरसे हम खोखले हैं। आज शान्ति को खोज हम होटल एवं मादक द्रव्योंमें करनेके आदी बन गये हैं जो हमें अधःपतन की ओर ले जा रहा है। हम अधिकसे अधिक नास्तिक एवं आधुनिक ऐश्वर्य परायण होते जा रहे हैं। आज का विज्ञान हमें अधःपतन की ओर ले जा रहा है। हमारा समग्र जीवन अनैतिक कार्योंमें संलग्न होता जा

रहा है। अतः श्रुति भगवती अनुग्रह पूर्वक संसारके जीवोंको जगाती है कि हम अन्धकार नहीं प्रकाश की ओर चलें। अभी हमारा विज्ञान भी अधूरा है। जिसके बल पर संसारमें हम ख्यात, उन्नत, प्रशान्त और शान्त कहे जाते थे, आज वह थाती मेरे पास नहीं रह गयी है। हम खाली हो चुके हैं।

अतः श्रुति भगवती का परम अनुग्रह है जो हमें सदैव चेतन करती चली आ रही है। आज वेद का पठन-पाठन शिक्षा-दीक्षा नहीं के बराबर हो चुकी है। वह आधुनिक शिक्षा का ही प्रभाव है। वेदज्ञ विद्वान् भी अपने पुत्र को वेद की शिक्षा नहीं देता क्योंकि उसे शंका है कि इससे हमारी जीविका नहीं चल पायेगी। ऐसी भयावह परि-स्थितिमें विचार करना पड़ेगा कि हम कहाँ जा रहे हैं। **(ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः)** आज अशान्ति, दरिद्रता, दासता और व्यामोहमें पड़े हम अपने को जागरूक नहीं बना रहे हैं। जो भी चाहता है, हमसे ही लाभ उठाकर हमें त्याग देता है। हम राम कृष्ण और अध्यात्म पर दृढ़ नहीं रह पा रहे हैं, यह हमारी दीनता एवं स्वार्थ है। आज का चिन्तन अध्यात्मके साथ भौतिक एवं वैज्ञानिक होना चाहिये, तथा हमको अन्य देशों की तरह आधुनिक विकास भी करना चाहिये, तभी हमारी आध्यात्मिक उन्नति, भौतिक, सांस्कृतिक उन्नति और सामाजिक उन्नति हो सकती है। तभी हम विकास कर सकते हैं। अतः श्रुति भगवती हमें सदैव कर्म की ओर प्रेरित करती है। ब्रह्म विद्या हमें अकर्मण्य होने का उपदेश नहीं करती। हम अपनी उन्नति सर्वतोभावेन सम्पादित करें, अपने वैभव और ऐश्वर्य का सम्बर्द्धन करें। **"सतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर" (अथर्ववेद ३ २४।५)** सौ हाथोंसे संग्रह करो, हजार हाथोंसे दान करो। आज अपने देश की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। हम ब्रह्मविद्या एवं अध्यात्म विद्या की चर्चा तो करते हैं पर हमारा आचरणपक्ष अति संकुचित हैं। अतः उक्त मन्त्रमें विद्या, अविद्या प्रकरणमें आत्मज्ञान और जगत् विज्ञान की विशद चर्चा की गयी है।

आज अविद्यामें संलग्न मानव समझ रहा है कि हम बहुत उन्नति कर गये। पर यह बात नहीं है। आज वे सुख-साधन एकत्रित किये जा रहे हैं, वह हमारा विकास नहीं, विनाश है। जो विपुल साधन इकट्ठे हो रहे हैं, कालान्तरमें वे बड़े भयावह हैं। अपने सुखके लिए दूसरे का बलिदान करनेमें लोग हिचकेंगे नहीं। उसके द्वारा संसारमें अशान्ति एवं दुःख का ही साम्राज्य स्थापित होगा। उक्त मन्त्र उसी की व्याख्या प्रस्तुत करता है—

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।

शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ।।अथर्व० ११।८।२३।।

विद्या और अविद्या चारों वेदोंके रूपमें शरीरमें प्रविष्ट हैं (**अथो यजुः ब्रह्मशरीरं प्राविशत्**) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, ब्रह्मवेदके ज्ञानके रूपमें प्रवेश किया है। अतः स्पष्ट हो गया कि मानव जीवनमें विद्या और अविद्या दोनों की शिक्षा परम आवश्यक है।

श्रुति अनुग्रह करती है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते,
विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढ़े।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या,
विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।। श्वे० ५।१ ।।

इस संसारमें जो नाशवान है वही अविद्या है और जो अमृत है अविनाशी है, वह विद्या है। अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान्में विद्या, अविद्या दोनों विद्यमान है। इन दोनों पर अनुशासन करने वाला तत्व ब्रह्मतत्व है। अविनाशी ज्ञान, आत्मज्ञान विद्या है। नश्वर अनित्य ज्ञान अविद्या है। आत्मा, परमात्मासे सम्बन्धित ज्ञान ही वास्तविक है। भगवत् परायण जीव विद्वान है। संसार परायण जीव अज्ञानके अन्धकारमें भटक रहा है। अविद्या का अनुसरण मरण है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः,
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।। कठ० १।२।५ ।।

अविद्यामें रत लोगों को श्रुति मूर्ख, अभिमानी और पण्डितमन्य कहती है। और कहती है—जैसे कोई अन्धा व्यक्ति अन्धे को मार्ग-दर्शन दे उसी प्रकार दोनों भ्रमित हैं। उनके जीवनमें मात्र दम्भ है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसे लोग सदैव विपरीत मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। यह आजके वर्तमान समाज का चित्रण किया गया है। इसी प्रकरणमें यम नचिकेतासे कहते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं,
प्रमाद्यन्ते वित्तमोहेन मूढ़म्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी,
पुनः पुर्नवशमापद्यते मे ॥ कठ० १।२।६।

धन परिवारके विमोहमें अनुरक्त प्रमादी लोग अज्ञानसे बालक की भाँति आचरण करते हुए इस संसारको ही सर्वसार मान बैठे हैं। वे लोग समझते हैं इस लोक को छोड़कर कोई सुख है ही नहीं। अतः इस सागरमें पड़े हुए भँवरके चक्कर काट रहे हैं और अनन्त जन्म व्यतीत होते चले जा रहे हैं। इन सब उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि विद्या अविद्या दोनों की ही आवश्यकता संसारमें विद्यमान है। इस मानव जीवनमें श्रेय एवं प्रेय दोनों की आवश्यकता है। इसके बिना हमारा सम्यक् विकास नहीं हो सकता।

इसी तत्व को परा विद्या और अपरा विद्याके नामसे कथन किया गया है। परा विद्याके द्वारा ब्रह्मतत्व का ज्ञान, अपरा विद्याके द्वारा संसारके व्यवहार पक्ष का ज्ञान होता है।

"यथा परा यया तदक्षरमधिगम्यते" [मुण्डक १।१।५]

तीन लोकों की चर्चा शास्त्रोंमें की गयी है—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देव लोको, देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशसन्ति।

[बृहद्०, १।५।१६]

मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक। मनुष्यलोक को पुत्र-द्वारा जय, अन्यसे नहीं। पितृलोक को कर्मसे जय प्राप्त किया जाता है अन्य

कर्मसे नहीं। देवलोक को विद्याके द्वारा जीता जा सकता है, अन्य कर्मसे नहीं। देवलोक सर्वश्रेष्ठ है इसीलिए इसकी प्रशंसा सभी लोग सनातनसे करते चले आ रहे हैं। अविद्या का अर्थ कर्म भी होता है अर्थात् जो कर्म का ही अनुष्ठान करते हैं। **विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थः।** कर्म विद्याके विरोधी हैं अतः उनको अविद्या कहा गया है। अथवा जिन्हें भगवत् चरणानुराग नहीं है, भक्ति नहीं है वे अविद्या की उपासना करते हैं।

दयानन्द आदिने जो अर्थ अविद्या का किया है वह समीचीन नहीं है। यथा—अनित्यमें नित्य, अशुद्धमें शुद्ध, दुःखमें सुख, अनात्मामें आत्मा तथा शरीरादिमें आत्मबुद्धि की उपासना करते हैं, वे अन्धकारगामी हैं।

श्रुतियोंमें अविद्या द्वारा भी मृत्युको पार करना कहा गया है। अविद्या को पञ्चक्लेशोंके अन्तर्गत माना गया है। इसकी परिभाषा निम्न रूपमें की गयी है। **अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।। योगदर्शन सूत्र ५ ।।**

अनित्यमें नित्य बुद्धि, अपवित्रमें पवित्र, विषय सेवन आदि सुखका अनुभव, अनात्ममें आत्मबुद्धि-ये चार प्रकारके मिथ्या ज्ञान कहे गये हैं।

स्वामी शंकराचार्यके अनुसार यह मन्त्र ही कर्मनिष्ठोंके लिए है। परन्तु ज्ञान और कर्ममें भिन्नता हो सकती है, विरोध कभी नहीं है। मन्त्रमें ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही अभीष्ट है। ज्ञान की चरम परिणति भगवत् प्राप्ति और कर्म की भी चरम परिणति भगवत् प्राप्ति है। अन्तिम रूप या आश्रय मात्र भगवान् ही हैं। अतः अन्तमें दोनों का प्रदिपादन किया गया है। अतः मानव-मात्रको ज्ञान और कर्म दोनों की उपासना करनी चाहिये, क्योंकि ज्ञानके विना कर्म अन्धा है और कर्मके विना ज्ञान पंगु है।

नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति।

अतः विद्या तथा अविद्या भिन्न-भिन्न है। जो पुरुष अपनी साधना, विद्या एवं श्रद्धापूर्वक उपनिषद् की शिक्षाके अनुसार सम्पादन करता

है वह कर्म फलदायी होता है और जो कर्म अश्रद्धा अर्थात् उपेक्षापूर्वक किये जाते हैं वह फलदायी नहीं होते। शास्त्रोंमें कर्म करनेकी प्रेरणा दी गयी है। यह संसार ही कर्मक्षेत्र कहा गया है। यहाँ आकर हम शुभ कर्मोंका अनुष्ठान एवं संकल्प करें, यही मानव जीवनकी चरम परिणति है। जिस कर्मको हम ज्ञानपूर्वक करते हैं उसका फल वैसाही प्राप्त होता है।

यदि हम काँटे का बीज वपन करते हैं तो उसमें मीठा फल मिलना अत्यन्त कठिन है। यदि मधुरताकी दृष्टिसे माधुर्यका वपन क्षेत्रमें करते हैं तो उसका फल भी मधुर ही प्राप्त होनेकी आशा की जाती है, ऐसा संसारमें देखा जाता है। शास्त्र भी उसीका अनुमोदन करता है। जो मात्र ज्ञानके लिए ही श्रम करते हैं परमात्म कृपासे वञ्चित रह जाते हैं। अतः ज्ञान, कर्म दोनोंकी उपासना करनी चाहिये, जिससे जीवनमें अवश्य सफलता प्राप्त हो सकती है, यही श्रुति भगवतीका अनुग्रह है, उसीका अनुसरण हमको करना चाहिये।

दसम मन्त्र

दीर्घतमाऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्द। गान्धारः स्वरः।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।। १० ।।

अन्वय— विद्यया अन्यद् एव आहुः। अविद्यया अन्यद् आहुः। इति धीराणां शुश्रुम, ये नः तद् विचचक्षिरे ।।

भाष्य—

विद्या का तात्पर्य भिन्न प्रकारसे कहा जाता है और अविद्याका फल उससे भी भिन्न रूपमें अभिकथन किया गया है, यह महान धीर पुरुषोंसे श्रवण किया गया है, जिन्होंने समय-२ पर विशेष उपदेश किया है। विद्या शब्द वि पूर्वक दो अखण्डने, द्यु=द्योतने, एवं विद्-ज्ञाने धातुओं सिद्ध होता है। इससे भावमें एक प्रकारकी आत्मशक्ति, ऊर्जा, ज्ञान की दृढ़ता, आत्मप्रकाश तथा अमृतत्व की प्राप्ति होती है

और वासनात्मक बन्धन नष्ट हो जाते हैं। विद्या मानव जीवनकी वह वीणा है जो हृदयके सुसुप्त तंत्रियोंको झंकृत करती है। इसका बोध विद्वान साधक को ही होता है जिसने तप पूर्वक विद्या का स्वाध्याय अपने जीवनमें किया हो।

इस अविद्या का अपर स्वरूप इहलौकिक फलकी प्राप्ति है, यह सृष्टि विज्ञानका फल कहा जा सकता है। ऐहिक ऐश्वर्यके पीछे आज मानव बहुत जोरोंके साथ भाग रहा है। सांसारिक सुख-समृद्धि एवं उपभोगके अगणित साधन प्रचुर मात्रामें व्यावहारिक जीवनके उपकरण उपलब्ध करता है। दोनोंकी आवश्यकता जीवनमें है। यदि हम सोनेके समयमें जागें तो जागनेके समय निद्रा अवश्य आयेगी। अतः श्रुति स्वयं अनुग्रह करती है और विद्या एवं अविद्याके स्वरूपका वर्णन बड़े ही समारोहके साथ करती है—

दूरमेते विपरीते विषूची,
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्या भीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये,
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।। कठ० १।२।४।

विद्या अविद्या ये परस्पर एक दूसरेके विपरीत हैं। विद्या की कामना करने वाला प्राणी सांसारिक पदार्थोंके प्रति आकर्षित नहीं होता। विद्या का अर्थ निवृत्ति और अविद्या का अर्थ प्रवृत्ति तथा श्रेय प्रेय भी है। आत्मज्ञान को चाहने वाला सांसारिक बिषयके प्रति कामना नहीं करता, जैसा कि नचिकेता यमसे ऐहिक कामनाओंके प्रति उदासीन ही दिखा। अत: उसकी परीक्षा लेकर यमने आत्मज्ञान का उपदेश किया। संसारमें जिस साधक को कामनायें आकर्षित नहीं करतीं, वह कृतार्थ हो जाता है। उसके दर्शन मात्रसे जीवनका पाथेय प्राप्त हो जाता है।

गोस्वामीजीने विद्या अविद्या का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। चित्, ईश्वर, अचित् इन तीन तत्वोंका वर्णन विद्या अविद्याके रूपमें ही प्रस्तुत किया है।

मै अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
[रा० मा० अर० १४]

मैं और मेरा तू और तेरा यही भाव माया का स्वरूप है। जिसने समस्त संसारके जीवोंको अपने बसमें कर रक्खा है। इन्द्रियाँ तथा इनके विषय और मनकी गति जहाँ तक विद्यमान है वह सब माया है। इसके दो भेद हैं एक विद्या और दूसरी अविद्या है। अविद्या अत्यन्त दुष्टा और दुःखरूपिणी है, जिसके वशमें होकर जीव संसाररूपी कूपमें पड़ जाता है। दूसरी विद्या, जिसके बशमें समस्त गुण विद्यमान हैं। वह प्रभुकी प्रेरणासे जगत्का सृजन करती है, अपना कोई बल उसमें नहीं है।

जीव भगवान का शरीर है अतः इससे पृथक् स्वस्वामिभान नहीं रहता। जब यह उस स्थितिसे अलग हुआ तब पहले मैं की सत्ता हुयी। फिर अन्य जीवोंके प्रति द्वैत बुद्धि होनेसे 'तैं' भी हुआ। 'मैं' से मोर, और 'तैं' से तोर भी उत्पन्न हो गया। **न वै तेऽजित् भक्तानां ममाहमिति माधव। त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वै कृताः॥** यह मैं हूँ, और यह मेरा है तथा यह तू है, यह तेरा है इस प्रकारके विकारसे संयुक्त वुद्धि (पशुओं की सी) आपके भक्तोंमें नहीं होती। भक्तिके समक्ष माया कभी भी नहीं रुकती। **मै अरु मोर तोरतैं माया** से माया का स्वरूप, **जेहि बस कीन्हे जीव निकाया** से माया का कार्य कहा गया है। **गो गोचर जहँ लगि मन जाई** से माया का विस्तार कहा गया है। **गो गोचर** से दृश्यमान जगत्, **जहँ लगि मन जाई** से अदृश्य लोकोंको भी जनाया है। यहाँ अविद्या मायाके वशवर्ति मनके विषय की बात कही गयी है। विद्या मायासे शुद्ध मनका विषय तो मात्र भगवान् ही कहे गये हैं। **मय्येव मन आधत्स्व।** **(गी० १२।८)**

मनसैवेदमाप्तव्यम्। **(कठ० २।४।११)**

तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।।
(मा० उ० १२)

तुलसिदास मैं मोर गये बिनु, जिय सुख कबहुँ न पावे।
(विनय पत्रिका १२०)

अर्थात् अविद्या मायासे मैं मोर की कल्पना ही दुःख का मूल है।

'अविद्यात्मक सुत वित देह गेह स्नेह इति जगत् ।'

इस परिभाषासे प्रसिद्ध है। देहमें पुत्र आदि सम्बन्ध और गेहमें वित्त आदि जड़ पदार्थोंका अन्तर्भाव मानकर श्रीगोस्वामीजीने देह, गेह, नेह रूपमें ही इस अविद्या कल्पित नानात्व को जगत् माना है।

जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो।
तब ते देह गेह निज जान्यो।
माया बस स्वरूप बिसरायो।
तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो।। वि० प० १३६।।
देह गेह संसार। (गीतावली अयो० २६)
देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी। (वि० प० ७४)
देह गेह सुत वित कलत्र महँ मगन होत। (वि० प० २३५)

इस प्रकार श्रीराम शरीर रूप जगत्को अन्यथा भाव रूपमें नानात्व जगत् की कल्पना करना अविद्या माया का कार्य है।

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं संनिधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये।।
(श्रीमद्भागवत० १०।२।२८)

साक्षात् भगवान् ही इस प्रपञ्चके उत्पत्ति पालन ओर प्रलयके स्थान हैं। जिनका ज्ञान आपकी मायासे ढका हुआ है वही आपको नानात्वके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इव नानेव पश्यति।।
(कठ० २।४।११)

मनसे यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस प्रपञ्चमें कुछभी ब्रह्मसे भिन्न नाना सत्ता नहीं है। जो प्रपञ्चको भिन्न-२ रूपमें देखता है, वह मृत्युसे पुनः मृत्यु की ओर जाता है। **विद्या माया—एक रचइ जग गुन बस जाके।** अविद्या माया दुष्ट कही गयी है।

लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुशासन माया ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तमापन्नं विद्या सर्गं वदन्ति तम्।
महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च ॥
अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः।
विद्याऽविद्येति विख्याते श्रुति शास्त्रार्थचिन्तकैः ॥

अव्यक्तसे व्यक्त भावापन्न उस विश्व विराट् रूप को विद्या-सृष्टि एवं महान कहा जाता है और अहंकार को अविद्या सृष्टि कहते हैं। विद्या सृष्टिके ज्ञानसे चराचर को भगवान् का शरीर मानकर उसकी उपासना होती है। अतएव वह विधिरूपिणी है। नानात्व दृष्टिसे अहंकार आदि विकारोंमें राग, द्वेष आदिके दुःख प्राप्त होते हैं। अतः अविद्या सृष्टि अविधिरूपिणी है। ये दोनों प्रकार ज्ञान अज्ञान की दृष्टिसे देखने पर उत्पन्न होती है।

विद्या सृष्टिसे जगत्के चराचर रूपसे रामजीके उपकारों को समझकर उनकी उपासना होती है और व्यष्टि जगत्को रामजीका नियाम्य समझनेसे उससे ममता छूटती है।

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा ॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी ॥

[मा० सु० ४७]

विद्या माया द्वारा साक्षात्कार होने वाला विराट् रूप जगत् स्वरूपतः अनित्य और प्रवाहतः नित्य है। अविद्या माया ठीक इसका पूर्व पक्ष (भ्रमात्मक अन्यथा भाव) है।

पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे। [मा० उ० १३]

इस प्रकार विद्या एवं अविद्या का स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है।

एकादश मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। स्वराडुष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

[यजु० ४०।१४]

अन्वयार्थ—यः=जो, **विद्यां च अविद्यां च उभयम्**=विद्या एवं अविद्या दोनों को, **ह तद् वेद**=अच्छी तरह जानता है, और दोनोंका साथ-२ अच्छा ज्ञान रखता है। (सः) **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा**=वह साधक अविद्या (प्राकृत विज्ञान) से मृत्युको तैरकर (मृत्युलोकमें सुखपूर्वक जीवन विताकर) मायासे छूटकर, अर्थात् कर्मतत्त्व का ज्ञान कर, **विद्यया अमृतमश्नुते**=अमरत्व (मोक्ष) को अथवा भगवद्भक्तिको प्राप्त करके संसारके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। अर्थात् विद्या, अविद्या दोनों को जानने वाला अन्तिममें मोक्ष या भगवत् सान्निध्य प्राप्त करता है।

भाष्य——

यह संसार कर्म क्षेत्र कहा गया है। यहाँ आने वाला मानव कुछ न कुछ कर्म करता ही है, यह उसकी सहज प्रकृति है। इसमें कोई विशिष्ट पुरुषार्थ करके भौतिक एवं सांसारिक ज्ञान का अर्जन करके अपना जीवन सफल बना लेता है और कुटुम्ब सहित संसारमें सुखी होता है तथा ब्रह्मज्ञान द्वारा परमात्माको भी प्राप्तकर लेता है। इसके विपरीत कुछ लोग इसको भार समझकर छोड़ देते हैं। अतः इस पर ध्यान नहीं देते हैं। वे अपने जीवनके समस्त कार्य प्रमादमें ही समाप्त कर देते हैं और मृत्युके अनन्तर अन्धकारमें ही पड़ते हैं। उनका ऐहिक और पारलौकिक दोनों विफल हो जाता है। आधुनिक कालमें ऐसे लोगों की देशमें बहुलता है। वह वेश तो हंस का बनाये हैं पर कार्य कौव्वा का करते हैं। वे स्वेच्छाचारी हैं, अशिक्षित हैं। कहने पर क्रुद्ध हो जाते हैं। यही कारण है कि आज देश गर्त की ओर

जा रहा है। यहाँ विद्या अविद्या की चर्चा इसी अर्थमें की गयी है। जो लोग दोनोंका अध्ययन करते हैं वह इस संसार-सागरसे बड़ी सम्पन्नता के साथ पार कर जाते हैं।

विद्या की उपासना से आध्यात्मिक ज्ञान, भगवद् भजन से भक्ति प्रपत्ति और भगवत् सान्निध्य प्राप्त कर लेते हैं। अनेक व्याधियों से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। मन्त्रमें विद्या अविद्या दोनोंकी चर्चा इसी लिए की गयी है, जिससे मानव जीवन एकाङ्गी न हो जाये प्रत्युत् उसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति हो सके। हमारी वैदिक ज्ञान की गरिमा सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक रही है और आज भी विद्यमान है।

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥ (केन० २।४)

अर्थात् आत्म ज्ञानसे अमृतत्व की प्राप्ति एवं शुभ कार्योंसे बल की प्राप्ति होती है। ब्रह्म ज्ञानसे अमरत्व प्राप्त होता है। अथवा जो ज्ञान कर्म दोनों साथ-२ जानते हैं, ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करते हैं वे श्रेष्ठ कर्मोंसे मृत्यु को पारकर सुख एवं वैभव का आनन्द प्राप्तकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ज्ञान, कर्म दोनों के समुच्चय का उपदेश इस मन्त्रमें विद्यमान है। मानव जीवनमें दोनोंकी परम आवश्यकता है, तभी जीवन सार्थक एवं सुखी बन सकता है।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
(मनु० १२।१०४)

तप और विद्या ब्राह्मण के लिए मङ्गलप्रद कहे गये हैं क्योंकि तप से पाप नाश और विद्या से मोक्षकी प्राप्ति होती है। '**विद्यया-ऽमृतमश्नुते**'का तात्पर्य उपासना से है। अद्वैत मत के अनुसार उपासना के साथ ही कर्म का समुच्चय किया गया है, ज्ञानके साथ नहीं। विद्या और अमृत की संगति नहीं बैठती है, क्योंकि परमार्थ विद्या और कर्म का परस्पर विरोध होने के कारण समुच्चय नहीं हो सकता।

विद्या सृष्टि को महान् कहा गया है। अतः उसको अमृत के रूपमें प्रस्तुत किया गया है। विद्या सृष्टिके ज्ञानसे चराचर को भगवान् का शरीर मानकर उसकी उपासना की जाती है-अतः यह विधि रूपिणी है। विद्या सृष्टिसे संसार के कण-२ में भगवत् स्वरूप का बोध होता है अतः उसको अमृतके रूपमें चित्रित किया गया है। विद्या सृष्टि द्वारा सत्य सनातन परमात्मा का बोध होने से साधक का समग्र जीवन चन्दन की तरह सुगन्धित हो जाता है और संसारकी आसक्ति भी छूटने लगती है। आसक्ति ही दुःख का कारण है। यदि वह छूट जाये तो संसार में प्राणी भगवद् बोध करनेमें पूर्ण सफल हो जाता है अतः योग दर्शनमें अविद्या की परिभाषा की गयी है—

अनित्या शुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।
(योग दर्शन सा० पाद सू० ५)

सम्यक् यथार्थ बोध होना शास्त्रों में विद्या कही गयी है। विपरीत बोध अविद्या है।

द्वादश मन्त्र

दीर्घतमाऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्यां रताः ॥ १२ ॥
(वाज०, यजु० ४० । ६)

अन्वयार्थ-ये असम्भूतिम् उपासते संसार में जो लोग असम्भूति की उपासना करते हैं **'अन्धंतमःते प्रविशन्ति'** वे गहन अन्धकारमें प्रविष्ट होते हैं। **'ततो भूय इव ते तमः ये उ सम्भूत्यां रताः।'** वे उनसे भी घोर अन्धकार में जाते हैं जो मात्र सम्भूति में रत हैं।

भाष्य—वैसे असम्भूति, का तात्पर्य नश्वरता है। अनित्य अविनाशी तत्व आत्मा या परमात्मा को सम्भूति कहा जाता है।

अतः अर्थ स्पष्ट हो गया कि जो लोग इस संसारमें आकर वे मात्र विनाशशील सांसारिक पदार्थों की उपासना में ही संलग्न हैं वे

तिमिराच्छन्न गहन अन्धकार की ओर जा रहे हैं तथा वे लोग और गहन अन्धकार की ओर हैं जो मात्र अविनाशी तत्व चिन्तन में ही दिवस यापन करते हैं।

विनाशशील कामनाओं की पूर्ति में लगे हुए लोग अन्धकार की ओर जाते हैं क्योंकि इन कामनाओं का अन्त नहीं हो सकता। एक की पूर्ति करो तो दूसरी कामना तुरन्त उत्पन्न हो जाती है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । (कठ० उ० १ । १ । २६)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। (मनु० २।१।६४)

मनुष्य की कामनायें भोगसे कभी भी तृप्त नहीं होतीं, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ती हैं, जैसे घृत की आहुतिसे अग्निदेव बढ़ते हैं। ऐसे लोगों की गीता में निन्दा की गयी है—

अनेक चित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।
(गीता १६ । १६)

मात्र कामनाओंमें संलग्न, कुटुम्ब की समस्याओं से भ्रमित और विषयों में आसक्त, लोग नरकगामी होते हैं।

आश्चर्य की बात यहाँ यह कह दी गयी है कि परमात्मतत्व में ही लगे हुए भी अधोगामी होते हैं। यह बात इस प्रकारकी है कि यदि संसार का प्रत्येक प्राणी मात्र उपासना या भजन ही करने लग जाये तो यह जीवन यात्रा कठिन हो जायेगी तो उसके साथ लौलिक, व्यावहारिक कर्म भी करना आवश्यक है। संसारके कर्मोंका सम्पादन करते हुए उपासना या भजन अथवा परमात्म चिन्तन करना लाभप्रद होता है।

यह जीवन एकाङ्गी नहीं होना चाहिये। यह शरीर स्वस्थ और शान्त रहेगा तभी धर्म कर्म, यजन, भजन सभी कार्य हो सकते हैं। अतः श्रुति ने कृषि करने का आदेश दिया है। अन्न तो ब्रह्म ही है। भृगु के पुत्र वरुण ने यह बात कही है— **'अन्नं ब्रह्मेति**

द्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।' अन्नके द्वारा ही यह समग्र सृष्टि उत्पन्न हुयी है ।

प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाच (छान्दोग्य १।८ ४)

प्राण का आश्रय एवं शक्ति अन्न ही कहा गया है ।

शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात् [बृहद्० ५।१२।१]

अन्नके विना प्राण शक्ति नष्ट हो जाती है । उपनिषद्में कथा आती है—श्वेतकेतु के पिताने अपने पुत्रको १५ दिन अन्न त्यागने को कहा । उसके बाद वह आया । उन्होंने कहा कि ऋग्, यजुः, सामको कहो । श्वेतकेतुने कहा—पिताजी ! मेरे मनमें इस समय कुछ भी नहीं आता है । मेरी स्मृति विलुप्तप्रायः हो चुकी है । स्थिर रहने की स्थितिमें नहीं हूँ ! अतः आप आज्ञा करें कि मैं क्या करूँ ? ऋषिने कहा कि तुम्हारी सभी कलाओं में एक कला कम हो गयी है, जाओ भोजन करो । वह भोजन करने के बाद तीनों वेदोंके मन्त्रोंको अपने पिता को सस्वर श्रवण कराया । ऋषिने उपदेश किया—**अन्नमयं हि सौम्य ! मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाग् इति ।** [छान्दो ६।७।६] मन अन्नमय और प्राण जलमय है तथा वाणी तेजोमयी है । इसप्रकार जीवन यात्रा को पूर्ण सफल करने के लिए विद्या, एवं अविद्या दोनों की परम आवश्यकता है । तभी यह जीवन सुखमय, आनन्दमय एवं व्यवहारपूर्ण हो सकता है ।

अतः विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान, अविद्या अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान दोनोंकी आवश्यकता प्राणीको है । संसारसे विमुख होकर अथवा पलायनवादी बनकर न वह अपना कल्याण कर सकता है, न दूसरे का कल्याण कर सकता है । मात्र परलोक की चर्चा करने से बुभुक्षा नहीं मिट सकती । अतः हम कर्मके और भक्तिके साथ, भजनके साथ और पूजन के साथ व्यावहारिक कर्म को भी जोड़े रहें, यह मन्त्रका तात्पर्य है । ऐसे न करने से हम घोर अन्धकार की ओर ही जायेंगे और हमारी अधोगति भी होगी । इस संसारमें कर्तव्योंका पालन करना मानव का परम कर्तव्य है, इससे भागना नहीं चाहिए ।

आत्म चिन्तन या उपासना एवं भजन करना बड़ी अच्छी बात है पर इसके साथ संसारके व्यावहारिक कार्योंका भी सम्पादन करना अत्यन्त आवश्यक है। केवल भक्ति या उपासना अथवा आत्मचिन्तन करना अन्य सभी व्यवहारोंसे शून्य होना बहुत बड़ी भूल है। वेदकी शिक्षा पूर्ण व्यावहारिक एवं जीवनोपयोगी है, हम उसे अपने जीवन में ला नहीं पाते। आगे सम्भूति एवं असम्भूतिका अर्थ अनेक आचार्यों ने अपने ढंग से किया है। स्वामी शंकराचार्यने सम्भूति का अर्थ हिरण्यगर्भ नामक कार्य ब्रह्म किया है। दयानन्द ने महदादि रूपसे परिणत सृष्टि किया है। स्वामी रामानन्दाचार्य के अनुसार ब्रह्म प्रतिरूप अनुभूति तथा समाधि रूप अनुभूति ये दो अर्थ होते हैं। स्वामी रामानुजाचार्यने समाधि के अङ्गभूत निषिद्ध कर्मसे निवृत्ति अर्थ किया है। श्रीमध्वाचार्य ने श्रीहरि का जगत् कर्तृत्व और श्रीनारायण स्वामी ने कार्य प्रकृति एवं सूक्ष्म शरीर अर्थ किया है। पण्डित श्रीपाद ने समष्टि, संघ जाति तथा कुछ अन्य आचार्योंके अनुसार असद् वृतियों का निरोध ही सम्भूति है। इसप्रकार आचार्योंने सम्भूति पर विचार किया है। इनके अनुसार ये सब अर्थ सम्भूति के हैं और असम्भूतिके अर्थ पर भी विचार किया गया है, जो निम्न हैं—

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य ने— असम्भूति का अर्थ उत्पत्ति प्रध्वंस रहित आत्म तत्व।

स्वामी शंकराचार्य ने— अव्याकृत नामकी वाणी, प्रकृति कारण, अज्ञानात्मिका अविद्या।

श्री रामानुजाचार्य ने— समाधि अङ्गभूत निषिध कर्म निवृत्ति।

श्री मध्वाचार्य ने— श्रीहरिका जगतका संहार करनेका धर्म।

श्री नारायणस्वामी ने— कारण प्रकृति कारण शरीर।

पण्डित श्री पादजी ने— व्यष्टि एक व्यक्ति।

इस प्रकार आचार्योंकी अपनी मान्यताएँ हैं, पर तात्पर्य उस पद का वही है कि असम्भूति अर्थात् जो नश्वर (विनाशशील) संसारकी उपासना करता है वह अन्धकारगामी है। असम्भूति है जो शाश्वत

आत्म चिन्तन या उपासना एवं भजन करना बड़ी अच्छी बात है पर इसके साथ संसारके व्यावहारिक कार्योंका भी सम्पादन करना अत्यन्त आवश्यक है । केवल भक्ति या उपासना अथवा आत्मचिन्तन करना अन्य सभी व्यवहारोंसे शून्य होना बहुत बड़ी भूल है । वेदकी शिक्षा पूर्ण व्यावहारिक एवं जीवनोपयोगी है, हम उसे अपने जीवन में ला नहीं पाते । आगे सम्भूति एवं असम्भूतिका अर्थ अनेक आचार्यों ने अपने ढंग से किया है । स्वामी शंकराचार्यने सम्भूति का अर्थ हिरण्यगर्भ नामक कार्य ब्रह्म किया है । दयानन्द ने महदादि रूपसे परिणत सृष्टि किया है । स्वामी रामानन्दाचार्य के अनुसार ब्रह्म प्रतिरूप अनुभूति तथा समाधि रूप अनुभूति ये दो अर्थ होते हैं । स्वामी रामानुजाचार्यने समाधि के अङ्गभूत निषिद्ध कर्मसे निवृत्ति अर्थ किया है । श्रीमध्वाचार्य ने श्रीहरि का जगत् कर्तृत्व और श्रीनारायण स्वामी ने कार्य प्रकृति एवं सूक्ष्म शरीर अर्थ किया है । पण्डित श्रीपाद ने समष्टि, संघ जाति तथा कुछ अन्य आचार्योंके अनुसार असद् वृतियों का निरोध ही सम्भूति है । इसप्रकार आचार्योंने सम्भूति पर विचार किया है । इनके अनुसार ये सब अर्थ सम्भूति के हैं और असम्भूतिके अर्थ पर भी विचार किया गया है, जो निम्न हैं—

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य ने-	असम्भूति का अर्थ उत्पत्ति प्रध्वंस रहित आत्म तत्व ।
स्वामी शंकराचार्य ने-	अव्याकृत नामकी वाणी, प्रकृति कारण, अज्ञानात्मिका अविद्या ।
श्री रामानुजाचार्य ने-	समाधि अङ्गभूत निषिध कर्म निवृत्ति ।
श्री मध्वाचार्य ने-	श्रीहरिका जगतका संहार करनेका धर्म ।
श्री नारायणस्वामी ने-	कारण प्रकृति कारण शरीर ।
पण्डित श्री पादजी ने-	व्यष्टि एक व्यक्ति ।

इस प्रकार आचार्योंकी अपनी मान्यताएँ हैं, पर तात्पर्य उस पद का वही है कि असम्भूति अर्थात् जो नश्वर (विनाशशील) संसारकी उपासना करता है वह अन्धकारगामी है । असम्भूति है जो शाश्वत

परमात्मा अविनाशी की उपासना करता है। दोनों अन्धकारगामी हैं। अतः मन्त्र का तात्पर्य स्पष्ट है कि साधकको न अत्यन्त आसक्त न अत्यन्त विरक्त होना चाहिए तथा न मध्यमें रहना चाहिये, तभी वह जीवनका सच्चा आनन्द प्राप्तकर सकता है। यदि एकाङ्गी हो जायेगा तो जीवन व्यर्थ हो जायेगा तथा अन्धकारमें ही जाना पड़ेगा।

मध्य का जीवन भक्तियोग है। भगवान् भागवतमें अनुग्रह करते हैं—"**न निर्विण्णः नाऽतिसक्तः भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः**" अर्थात् न बहुत आसक्त न बहुत विरक्त अर्थात् मध्य की स्थिति अच्छी है। अर्थात् जीवनका व्यापार चलाते हुए आत्म चिन्तन और भजन पूजन से मंगल एवं सिद्धि प्राप्तहो जायेगी क्योंकि श्रीभगवान् विश्वरूप कहे गये हैं। संसारकी सेवा भगवत् सेवाही है। संसारकी सेवा करते हुए आत्म-चिन्तन, रामभक्ति की जाय तो भी सिद्धि अवश्य मिलेगी।

त्रयोदश मन्त्र

दीर्घतमाऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥

अन्वयार्थ—

नित्य अविनश्वरतत्वकी उपासनासे अन्य फलकी प्राप्ति होती है। नश्वर पदार्थकी उपासनासे भिन्न फलकी प्राप्ति होती है। जिस ऋषिने इसपर अपना व्याख्यान किया है, वह बड़ाही अनुशासित है।

भाष्य—

संसार के नाशवान पदार्थों की उपासनासे अथवा उसमें संलग्न रहनेसे अथवा उनको प्राप्त करनेके प्रयास से मनुष्य को क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है।

आत्मा तथा परमात्मा की उपासना या भजन पूजनसे स्थायी एवं अलौकिक सुखकी अनुभूति होती है। और प्रभुकी अविरल कृपा की प्राप्ति होती है, जिससे उसका समग्र जीवन कृतार्थ हो जाता है।

यही जीवन धारण करनेका सच्चा आनन्द है, इसे प्राप्त करनेमें उसको समय नहीं लगता है। वह अपने लक्ष्यको बेधनेमें पूर्ण सक्षमहो जाता है।

अतः स्पष्ट हुआ कि सांसारिक पदार्थोंकी उपासना संकुचित एवं नश्वर हैं और आत्मा परमात्मा की उपासना अविनाशी तत्वकी उपासना होती है यही जीवनकी आत्मोन्नति है। यही जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। इस मन्त्रमें भी सम्भूति और असम्भूति पर विचार होता है। यहाँ जो स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरका निरूपण किया गया है उसका अन्य तात्पर्य है। कारण प्रकृति और कारण शरीर से अन्य फलकी व्याख्या विद्वानों महापुरुषों से श्रवण की गयी है।

असम्भूतिका तात्पर्य वैयक्तिक भाव, सम्भूति व्यक्तिकी स्वतंत्रता के अर्थमें प्रयुक्त किया है। पर इसका तात्पर्य यही हैं कि सम्भूतिका तात्पर्य सत्तावान् और असम्भूतिका अर्थ अपनेको सत्तावान न मानना ही होता है। आजके लोग ईश्वरकी सत्तापर भी संदेह व्यक्त करतें हैं। यद्यपि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय व्यवस्थाके परमाधार रूप में ब्रह्म सत्ताको वेदान्तमें बड़े समारोह रूपमें निरूपण किया गया है।

श्री गोस्वामीजी ने एक ही पदमें पूर्ण निरूपण प्रस्तुत कर दिया है—**"लोक वेदहूँ विदित बात सुनि समुझिये मोह मोहित विकल मति थिति न लहति। छोटे बड़े खोटे खरे मोटेउ दूबरे राम रावरे निबाहे सब हो की निबहति। होती जो आपने बस रहतो एक ही रस, दुनी न हरष शोक साँसति सहति। चहतो जो जोई-२ लहतो सो सोई सोई केहू भाँति काहू की न लालसा रहति। करम काल सुभाव गुन दोष जग माया ते सो समय भौंह चकित चहति। ईसनि दिगीसनि जोगीसनि, मुनीसनि हूँ छोड़ति छोड़ाये ते गहाये ते गहति। सत-रंज को जो राज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ बहुवेष बहु मुख शारदा कहति।।" (विनय पत्रिका)**

संसारमें सभीका निर्वाह भगवानके निवाहनेसे ही निभता है, यह बात लोक वेद सभी जगह प्रसिद्ध है। इस बातको समझते हुए

मेरी बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती है। यह संसार यदि स्वतन्त्र होता तो सदा एक दशामें ही रहता। हर्ष और शोक की दुर्दशा न सहन करना पड़ता। इच्छित फल मिल जाता। किसी की लालसा ही न रहती। पर ऐसा नहीं है। अतः संसार परतन्त्र है जीव मायाके वस है और माया आपके भौंह को चकितचित होकर देखती रहती है तथा आपसे भयभीत भी रहती है।

इस माया की प्रवृत्ति आपके रुखके अनुसार ही रहा करती है। यह माया शिव, ब्रह्मा, दशों इन्द्रियादिकों, दिग्पालों, याज्ञवल्क्य आदि योगीश्वरों और व्यास आदि मुनीश्वरों को भी आपके छुड़ाने से छोड़ती है और पकड़ानेसे पकड़ती है। इस माया का सारा समाज शतरंज का सा राज्य है। सभी समाज काष्ठवत् है। इसमें सम्भव करना निश्चित कठिन है, असम्भव कहना भी उतना ही कठिन है। यह संसार की शतरंजरूपी बाजी आपकी ही रची हुयी है। इस बाजी की हार-जीत आपहीके हाथोंमें है। अपना वश इसमें कुछ भी नही है। इसमें सम्भूति या असम्भूति दोनों का ज्ञान कराने वाले आपही हैं, इसमें जीवके वशमें कुछ भी नहीं है।

इस विनाशशील संसाररूपी जहाज का संचालन आपही द्वारा सम्भव हो सकता है। यह जीवमात्र उपकरण है। इसका प्रयोग जैसा चाहें वैसा करलें। इसी बात को सरस्वती अनेक रूपोंमें वर्णन करती है। इस प्रकार बड़े-बड़े ऋषि मुनि भी इसीको कई प्रकारसे व्याख्या तथा उपदेश द्वारा समझाने का प्रयास करते रहे हैं।

सबके अधिपति एवं स्वामी आपही हैं। **'विश्वम्भर, श्रीपति, त्रिभुवनपति वेद वदत फरि लीख। (विनय प० ६८)** इससे स्पष्ट हो गया कि जीवमात्र मनोरथ कर सकता है, इसकी पूर्ति उसके हाथमें नहीं है।

चतुर्दश मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥१४॥

(वाज० यजु० ४०।११)

अन्वय—

यः सम्भूतिं च विनाशं च, तत् उभयं सह वेद, विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृम् अश्नुते।

अन्वयार्थ— इस मन्त्रमें तत्वत्रय का प्रतिपादन किया गया है—ब्रह्म, जीव, प्रकृति। जनि मरण मात्र जगतमें है, आत्मा और परमात्मामें नहीं। मृत्युसे तरने वाला जीव, अमृत ब्रह्मांश है। प्रकृति स्वरूप विज्ञान का त्यागकर मुक्त होकर जीव ब्रह्म का अनुभव करता है।

अर्थात् जो अविनाशी परमात्मा तथा नश्वर संसार इन दोनोंको एक साथ जानता है, वह अस्थिर सांसारिक वैभव से मृत्यु को पार करके इस संसारमें सुखपूर्वक निवास करके उस शाश्वत भगवान् की पराभक्तिसे, उपासनासे अमरत्व या मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

भाष्य—

इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट निर्देश किया गया है कि मानव को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टयके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इन चारों का क्रमशः पालन जो अनुशासन पूर्वक करता है उसको शान्ति मिलती है। अनुशासित धर्म, काम का अनुगमन करे, अनुशासित काम धर्म का अनुगमन करे और अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष पुरुषार्थ का अनुगमन करें यह क्रम है। इसके द्वारा संसारमें धन, ऐश्वर्य, सन्तान तथा यश की प्राप्ति होती है। इसीके साथ यदि मानव भगवान् की भक्ति एवं उपासना भी करने लग गया तो उसका बेड़ा पार है। इससे जीवन एकाङ्गी भी नहीं होता है, क्योंकि भगवान् की भक्तिमें अमृत भरा हुआ है। उसका पान करने पर लोक-परलोक दोनों ही

सुधर जाता है। नीति शास्त्रमें वर्णन किया गया है कि "**धनाद् धर्मः ततः सुखम्**" धनसे धर्मका पालन और धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है। अतः मानवको धर्म एवं अर्थोपार्जन दोनोंको करना परम आवश्यक है। जो लोग यह कहते हैं कि मुझे किसीकी आवश्यकता नहीं, वह उनके हृदय की बात नहीं होती, वह खीझकर ही इस प्रकार की बात कहा करते हैं। संसारमें वह असफल एवं अकर्मण्य ही होते हैं। हमारे वेदों में व्यावहारिक शिक्षाभी पूर्णरूपसे विद्यमान है। वैशेषिक सूत्र (१।२) का कथन है- "**यतोऽभ्युदये निश्रेयः सिद्धिः सः धर्मः**" जिसके द्वारा अपना कल्याण तथा सब प्रकारसे उन्नतिहो, साथही निःश्रेयस् अर्थात् पारलौकिक उन्नतिभी हो सके उसे धर्मके नामसे अभिहित किया गया है। यह वैदिक सिद्धान्त है।

लोकमें कीर्ति धन प्राप्त करना, अभ्युदय या समृद्धि प्राप्त करना पाप नहीं है, अपितु पुण्य है। यह अप्रधान कर्म नहीं है बल्कि प्रमुख कर्तव्य है क्योंकि सांसारिक कर्तव्य तथा धार्मिक कर्तव्य विना धनके पूर्ण नहीं होते। परन्तु यह समृद्धि कर्तव्य या धर्मके बिना पूर्ण नहीं होती। यह अवश्य है कि धनके लिए ऐसा आचरण न किया जाय कि वह निःश्रेयस् में बाधक बन जाये। हमारी ऋषि परम्परामें लौकिक विभूति एवं ऐश्वर्य प्राप्ति करनेके बादभी मोक्षमें विरोध नहीं माना गया है बल्कि एक दूसरेका पूरक माना गया है। यह बात स्पष्ट रूपसे कही गयी है। सत्पुरुषोंने इस सिद्धान्तको पूर्णरूपसे माना है। संसारके प्रत्येक प्राणीका चरम लक्ष्य है अमृतत्व प्राप्ति। भगवत् शरण हो जाना या मोक्ष प्राप्ति। अमृतका तात्पर्य है परमानन्दकी प्राप्ति या भगवत् चरणानुराग, पर इसके पहले जो मृत्युको पार करना है। इस जीवनको सुखमय बनाना है। इस संसारमें दुःखी एव दरिद्र व्यक्ति प्रतिक्षण मरता है जबकि सुखी एवं समृद्धिवान् व्यक्तिको मृत्युका आभास भी नहीं होता। यदि होता भी है तो बहुत कम होता है। अतः मृत्युको पार करना वैभववान् होना है। अत: वेदके सैकड़ों मन्त्रोंमें ऐश्वर्य सुख समृद्धिकी कामना व्यक्तकी गयी है। यश प्राप्तिकी भी कामनाकी गयी है।

सद्बुद्धि की प्रेरणा करने वाला गायत्री मन्त्र है। उसमें जप का ही विधान है। उसीके द्वारा भगवत् प्राप्ति, कीर्ति, विद्या, आयु, प्राण, सन्तान, पशु तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति कही गयी है।

स्तुता मया वरदा वेद माता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्म वर्चसम्, मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्म लोकम्॥ (अथर्ववेद १९।७१।१)

मन्त्रका तात्पर्य है-"**मननात् त्रायते अनेनेति मन्त्रः**" मनन या अनुष्ठान करनेसे जीवनके प्रत्येक पक्षकी रक्षा एवं सम्वर्द्धन मन्त्र करता चला आ रहा है। एकपक्षीय शक्ति मन्त्रकी नहीं होती। जैसे गायत्री मन्त्र शरीर, धन, परिवार, व्यवहार, समाज, मोक्ष, भक्ति इन सर्वस्वको देनेमें समर्थ है। मन्त्रका एकदेशीयपक्ष कभी नहीं होता। जैसे औषधि अनुपानके अनुसार लाभ करती है उसीप्रकार मन्त्र अनुष्ठानके अनुसार लाभ करता है। मेरे द्वारा वरदायक प्रेरित करने वाली ब्राह्मणोंको पूत करने वाली उस वेद माता अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाशकी अधिष्ठात्री और अन्तमें (प्रचोदयात्) शब्द का प्रयोग किया गया है। स्वास्थ्य, आयु, शक्ति, धन, बैभव, कीर्ति, ब्रह्मतेज तक लेजाने वाली या प्रेरित करने वाली (प्रचोदयन्ताम्) या प्रचोदयन्ती का तात्पर्य है। नीति आदिमें वर्णन किया गया है कि मृत्यु के अत्यन्त निकट होने परभी अपनेको अजर अमर समझकर विद्या और धनका संचय करना चाहिए साथही धर्माचरणभी करना चाहिये। साथही भगवान्में समर्पण बुद्धि भी रखनी चाहिये।

जैसे कोई दूकानदार व्यापारमें दिवालिया हो जाय तो उसका बड़ा महाजन जो अपनी जिम्मेदारी लेकर जितना धन दिवालिया के पास होता है, उतनेही में सबको संतोष दे देता है और अपने कर्जसे मुक्त कर देता है।

उसी प्रकार जीव देहरूपी दुकानके सम्बन्धमें ऋणी है। अनेक जन्मोंके व्यापारसे इनके ऋण बढ़ गये है। अब जब समझ पाया तो मुमुक्षु होकर शेष आयुरूपी धन भगवान्को समर्पण कर उनकी शरण

हो गया । आयु रूपी धन उनके भजनमें लगाना समर्पण है । इससे भगवान् उसे तीनों ऋणों से उऋण कर देते हैं। यहाँ महाजन स्वयं भगवान् ही हैं—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम् ।।
(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ४१)

इस प्रकार संक्षेपमें हम यह कह सकते हैं कि पूर्वके ११वेंमें आये अविद्या शब्द का इस मन्त्रमें पठित विनाशम् पद लगभग पर्यायवाची है तथा विद्या शब्दका पर्यायवाची सम्भूति यह पद हो सकता है। पुनरपि विशेष रूपसे यहाँ तत्वत्रय प्रतिपादित है। ब्रह्म, जीव, प्रकृति यही तत्त्वत्रय है । इस विनाशशील जगत्में रहकर, प्रकृतिके स्वरूपको समझकर इसकी आसक्तिसे सर्वथा दूर हो जाय तो संसारके बन्धनसे मुक्त होकर ही जीव अमृत स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

किन्तु जीवके साधनसे अर्थात् विविध जप, योग, त्याग, तपस्या, कर्म और वैराग्यादिसे यह बन्धन कटने वाला नहीं, क्योंकि "श्रुतिपुराण बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक अरुझाई ।।" विनाशशील सांसारिक रागभोग छुड़ानेपर और उलझते ही जाते हैं। इसके लिए एक ही उपाय है, मात्र शरणागति की याचना—'तुलसी यह जिव बँध्यो मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै ।।" इस अर्थ की विशेष जानकारीके लिए श्रीरामचरितमानसमें वर्णित 'ज्ञान दीपक' प्रसंग का स्वाध्याय करना चाहिये ।

पञ्चदश मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धार स्वरः ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।
(ईशावास्य उ० १५)

अन्वयार्थ— हिरण्मयेन पात्रेण=स्वर्णके पात्रसे, सत्यस्य मुखम् अपिहितम्=सत्य का मुख ढका हुआ है। पूषन्=हे पालन-पोषणकर्त्ता प्रभो! सत्यधर्माय दृष्टये=सत्यरूप धर्मके दर्शन हेतु, तत् त्वम् अपावृणु=उसे आप अलग कर दीजिये।

भाष्य--

उक्त मन्त्र मात्र अध्यात्म ही नहीं है, अपितु नियमित जीवनके लिए अत्यन्त उपयोगी भी है। विशेषता यह है कि यह विषयी और चंचल मन स्वभावतः असत्य की ओर बरबस चला जाया करता है, इसलिए असत्य रूप मृत्युसे बचनेके लिए सत्यरूप अमृतत्त्व की याचना जीव द्वारा की जाती है। प्रमाद का त्यागकर जीव जब सत्यकी ओर बढ़ता है, तो वह सत्यसे भ्रमित हो जाया करता है। भौतिकता का वातावरण बड़ा सुनहरा होता है। अतः सत्य धर्मकी प्राप्ति हेतु प्रभुसे प्रार्थना की जाती है कि हम सत्यका दर्शनकर सकें। यह संसार की रीति है कि सत्यको छिपानेके लिए हम धन, ऐश्वर्य और सम्पूर्ण योग्यताको दाँव पर लगा देते हैं, लेकिन सांसारिक धन वैभवके आवरण को हटाये विना परम प्रकाशरूप सत्यका दर्शन नहीं किया जा सकता है। सत्यही ईश्वर का स्वरूप है और उसे आच्छादित करने वाला ढक्कन स्वर्ण इत्यादि आच्छादक है।

अतः यहाँ परमात्मासे प्रार्थना की गयी है कि प्रभो! मेरे ऊपर पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण हटा दो, जिससे सत्यका दर्शनकर सकूँ। इसका तात्पर्य है कि मुझमें इतनी शक्ति दें जिससे कि मैं वैभव तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, आदिसे ऊपर उठकर सत्य स्वरूप परमात्माके चरणोंमें पहुँच सकूँ। आज सत्यके साथ अपलाप हो रहा है। सत्य को दबानेके लिए कितने छल छद्म किये जा रहे हैं। सत्य को छल करके, धन या वैभव द्वारा जब-२ दबाया गया है तो समाजमें एक क्रान्ति, एक परिवर्तन तथा एक दरार सदैव उत्पन्न हुआ है। लोग अपने मार्गसे विचलित हुए हैं और उसका लाभ असामाजिक

तत्वोंने प्राप्त किया है। अतः यह वेद मन्त्र उसी रूपमें हमें शिक्षा देता है कि सत्यका दर्शन करनेके लिए त्याग, बलिदान भी करें।

श्रुति भगवतीकी प्रेरणा है कि सत्यके आधार परही राष्ट्र, समाज, परिवार एवं स्वजन सभी संतुलित रहते हैं। सत्य का पूर्ण दर्शन वैदिक परम्पराके अनुसार श्रीराम राज्यमें होता था, जिससे प्रजा स्वर्गके समान सुख और आनन्द का उपभोग करती थी। बाघ और बकरी एक घाट पर पानी पीते थे। कलह, द्रोह, छल, अधर्म और असत्य का नामोनिशान नहीं था। वस्तुतः सत्यका स्वरूप बड़ा ही तीक्ष्ण है। उसके समक्ष आना अग्निके समक्ष जाना है। उसका साक्षात्कार सब नहीं कर सकते हैं, पर राम राज्य की यह विशेषता रही है। आध्यात्मिक दृष्टिसे सत्यस्वरूप परमात्मा एवं आत्माके मध्य स्थित माया मोह रूप स्वर्णका आवरण पड़ा हुआ है, उस मोह माया रूपी पर्देको बिना हटाये परमात्माका दर्शन नहीं हो सकता।

यही बात नचिकेता के प्रसङ्गमेंभी आयी है। यमने सर्वप्रथम नचिकेताको अनेक प्रकारके प्रलोभन दिये। धन वैभव तथा इच्छित वस्तु माँगनेके लिए कहा, आत्मज्ञानके पीछे मत पड़ो। अभी तुम्हारी अवस्था भोग करनेकी है, आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी नहीं। पर नचिकेता ने सांसारिक वस्तुओंके प्रति कोई कामना व्यक्त नहीं की बार-बार आत्मज्ञानके प्रतिही जिज्ञासा की, तो यमने जब जान लिया कि इसकी दृष्टि आत्म ज्ञान पर ही है, तो अज्ञान का आवरण हटा दिया और आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया। जीव का यह सहज स्वभाव है कि सर्वदा कोई न कोई कामना मनमें आती ही है। मनकी वासना कभी भी नहीं मिटती और न कभी तृप्त ही होती है। जब तक पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा नहीं मिटती तब तक सत्य स्वरूप परमात्मा की ओर जीव नहीं जा पाता। मोहका आवरण जबतक मनपर छाया रहता है तब तक सत्य समझ नहीं आता। "ईशावास्यमिदं सर्वम्"

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः।
सत्यं दया तपो धनमितिः पादा विभोर्नृप॥

[श्रीमद्भागवत १२।३।१८]

धर्मके चार चरण हैं—सत्य, तप, दया और दान। इसपर विचार होना चाहिये। गोस्वामीजी कहते हैं—

धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।।

सत्यके आधारपर ही प्रजाकी स्थिति एवं वृद्धि होती है। सत्यके ही भयसे राजा अपना धर्म एवं कर्तव्य पालन करता है। न्याय विना सत्यके छूँछा रहताहै और क्रन्दन करता है। सत्ताका अर्थ विद्यमानता अथवा उपस्थिति होता है। उस भावको ही सत्य कहते हैं। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना सत्यको मानना है। उसीके अनुसार वाणी बोलना, आचरण करना, भाषण करना सत्य कहा जाता है। आज देशकी स्थिति बड़ी भयावह है क्योंकि सत्य, न्याय, धर्म, दया और तप सभीके साथ छल किया जा रहा है। अतः आजकी प्रजा पथविहीन होती चली जा रही है। **'यथा राजा तथा प्रजा'** जैसा आचरण राजा करता है उसीका अनुकरण प्रजा करती है। आज राजनेता ही अपने धर्मपर आरूढ़ नहीं है, अतः उसका महत्व भी प्रजामें कम ही है। यदि सत्य की महत्ता उठ जाये तो प्रजामें अराजकता बढ़ जाती है। आज प्रजाकी वही दशा है। एक-दूसरे को नष्ट करने, नीचा दिखाने, अयोग्य कहने, अपनेको उत्कृष्ट करनेकी होड़ सी लगी हुयी है। सत्यता मात्र आज वाणीमें रह गयी है, आचरण पक्ष अत्यन्त निर्बल हो गया है। छल-छद्म ही का बोलबाला हो गया है। स्वेच्छा-चारिता बहुत बढ़ चुकी है। हमारे वेद सदासे ऊँची व्यावहारिक शिक्षा देते आये हैं, पर हम उन्हें पढ़नेको कौन कहे पलटकर देखनेके पक्षमें भी नहीं हैं, अतः जीवनमें सफल भी नहीं हैं। इसी पक्षपर श्रुतिका अनुग्रह है कि **"सत्यान्न प्रमदितव्यम्"** सत्यसे हम प्रमाद न करें, नहीं तो हमारी धीरता खो जायेगी। सत्यका ही पालन करनेके लिए महाराज दशरथने श्रीराम ऐसे पुत्रको वनवास दिया और अपना प्राण छोड़ दिया। तर्थव पिताके सत्य वचनका पालन करनेके लिए श्रीरामजी प्रेमसे वन चले गये। श्रीराम अपने जीवनकालमें सत्यका पालन करनेके

लिए अत्यन्त दृढ़ रहें। देङ् पालने धातुसे दया शब्दकी निष्पत्ति होती है। दया का लक्षण है—

"दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न दृश्यते।"

"धर्म कि दया सरिस हरिजाना"

अतः मन्त्रमें श्रुति का अनुग्रह है कि यदि सत्य, धर्म आदि का दर्शन करना है तो सर्वप्रथम वित्तमोह को दूर करो। इसके विना सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। वह सदाके लिए छिपा रहेगा। **प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्**। और भगवान् की कृपा जबतक नहीं होगी तबतक माया और मोह दोनों दूर नहीं होंगें। इसीको मन्त्रमें स्वर्ण-ढक्कन की संज्ञा दी गयी है। जबतक जीवके ऊपरसे यह नहीं हटता तबतक सत्यस्वरूप परमात्माका दर्शन नहीं हो सकता। **सत्यस्य सत्यम्**—उपनिषद्में भगवान्को सत्य कहा गया है। सत्यके दर्शनका अर्थ भगवान् या परमात्मा है। मनमें जबतक संसारके विषय भरे हुए हैं तबतक भगवत् कृपा का भान हो ही नहीं पाता है। भगवती गीताने भी इसी श्रुति वाक्य का अनुमोदन किया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

सत्व, रज़, तम इनके समन्वय को, सांसारिक विषयोंमें संलग्न रूपको योगमाया कहते हैं। योगमायासे आच्छादित सबके लिए प्रकाशमें नहीं आते हैं। ऐसी कामनाओंसे अनुबद्ध अल्पबुद्धिसे संयुक्त पुरुष मुझ अनादि अविनाशीको नहीं जान पाता है। तात्पर्य यह है कि सत्य ही धर्म कहा जाता है। असत्य कभी भी धर्म नहीं कहा जा सकता है। वेदोंमें अनेक प्रकारसे इसका अनुमोदन किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद्में इसे पूर्णरूपसे दर्शाया गया है।

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत् धर्मं तदेतत् क्षत्रस्यक्षत्रं यद्धर्मस्तस्मात्तत्परं नास्त्यतो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै सधर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्त माहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद् ह्येवैतदुभयं भवति।

मानव मनके अशान्त होनेपर धर्मपर एक धारणा उदय हुयी तो अपने विकाश के लिए वह श्रेयरूप धर्मकी रचनाकी और अनुभव किया कि धर्म बल का भी बल है। अतः धर्मसे बढ़कर कुछभी नहीं है। जैसे राजा वैसे निर्बल पुरुषभी धर्मके माध्यमसे जय प्राप्त करने की इच्छा करता है। अतः यह निश्चित है कि जो धर्महै वही सत्य है। जो सत्य है वही धर्म है। अतः भाषण करने वालेको कहा जाता है कि वह **"अमुक धर्म को कहता है"** अर्थात् सत्यको कहता है क्योंकि धर्म और सत्य एक है। इनमे कोई अन्तर नहीं है। मानवके मनकी पवित्रता अपना एक विशेष महत्व रखती है। **"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"** मनही मानवके बन्धन एवं मोक्षका हेतु बनताहै।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ मनु० ५।१०९

जलके द्वारा शरीरकी शुद्धि होती है। सत्याचरण द्वारा मन शुद्ध होता है। विद्या और तप द्वारा आत्मवत् सर्वप्राणी दिखाई पड़ते हैं और बुद्धि ज्ञान द्वारा शुद्ध होती है।

अतः स्पष्ट हो गया कि वेदोंमें सत्यका विशेष रूपेण निरूपण किया गया है। सत्यके द्वाराही मानव जीवनकी उन्नति सम्भवहै पर आज सत्यके साथ अपलाप हो रहा है। अतः हमें लोक और परलोक दोनोंकी सत्यता या स्वरूपका बोध नहींहो पाता अतः सदा हम अशान्त हैं। हमारा विश्वास परिवार पुत्र, मित्र, समाज, राष्ट्र सबसे उठता चला जा रहा है। हमारी वैदिक शिक्षा गौड हो गयी है। सत्य स्वरूप हमारा परमात्माही शास्त्रोंमें वर्णित है। उस सत्यके साथ छल करने से हमारी शान्ति चली गयी। श्रुति भगवती अनुग्रह करती है कि सत्यका व्रत किस प्रकारसे धारण करें। **"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् इदमहमन्तात् सत्यमुपैति। [यजु० १।५]**

जीव अग्नि स्वरूप परमात्मासे याचना करताहै कि मैं व्रतको धारण कर रहा हूँ। हमारे सत्यरूप व्रतके अनुष्ठानकी रक्षा आपही कर सकते हैं। आपकी कृपासे मेरा यह असत्यसे सत्यकी ओर जाना

सफलहो । वह आपकी कृपा विना पूर्ण नहींहो सकता । अतः हे प्रभो! आप मेरे सत्य संकल्पकी रक्षा करें । मुझमें इतनी शक्ति प्रदान करें कि मैं अपना व्रतपूर्ण करने में पूर्ण समर्थहो सकूं । अतः उपनिषदोंमें सत्य पालन पर अधिक जोर दिया गया है ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।।
(मुण्डक० ३।१।५)

उस अनादि पवित्र ज्योतिर्मय परमात्माके दर्शन करनेके लिए महापुरुष प्रयत्नशील रहते हैं । वेद, सत्य, तप, ज्ञान तथा ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होते हैं ।

"**सत्यमेव जयते नानृतम्**" सत्यकी सर्वदा विजय होती है । इस देशका आदर्श वाक्य सदैव सत्य रहा है । भारतवर्ष का समृद्ध काल उपनिषद् काल है । सत्यका आचरण ही वस्तुत देवयान है, जिस पर चलकर आप्तकाम पूर्णनिष्काम ऋषियोंने परमपद प्राप्त किया है सत्य स्वरूप ज्योति पुञ्जही परब्रह्म है ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ।। यजु० १९।६७

ब्रह्माने अपने सत्यज्ञान द्वारा असत्यके स्वरूपको देखकर दोनों का भिन्न-भिन्न रूप दे दिया । असत्यमें अश्रद्धा और सत्यमें श्रद्धाको प्रतिष्ठित किया है । अतः अपने विवेक द्वारा सत्यासत्यका, धर्म-अधर्म का, न्याय-अन्याय और उचित-अनुचित का भाव अलग-अलग करके सत्यधर्म तथा न्याय आदिमें श्रद्धा तथा असत्य, अधर्म, अन्यायमें अश्रद्धा रखनी ही चाहिये । अतः वेदावतार श्रीवाल्मीकीय रामायणमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि संसारमें सत्यमात्र ईश्वर है । सत्यके ही आधार पर धर्मकी सत्ता संसारमें प्रतिष्ठित है ।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नस्ति परं पदम् ।।
(वा०रा०अयो० १०९।१३)

सत्यही सभी का धर्म एवं मूल है। सत्यसे श्रेष्ठ अन्य कोई परमपद नहीं है और बिना श्रद्धाके सत्यधर्म या परमात्मा की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। श्रद्धा का तात्पर्य अन्धविश्वास नहीं है। इसका तात्पर्य भावनासे है। भावना पवित्र नहीं है तो श्रद्धाभी नहीं होती है। श्रद्धाके बिना विश्वास और विश्वासके बिना धर्म या सत्यकी भावना भी उत्पन्न नहीं होती है। दान, यज्ञ, होम, तपस्या सभी का मूलाधार सत्यही है। सत्यके बिना इन सबका कोई महत्व नहीं रह जाता। अतः सत्य पालन अति आवश्यक है।

गोस्वामीजीने लिखा है—

धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।

भगवान् श्रीरामने धर्मका पालन सदैव किया। जिस समय वन जानेको तैय्यार हुए तो माता कौशल्यासे विदा लेनेके लिए गये। माँ कौशल्याने विदाईके समय रामकी रक्षाके लिए धर्मकी ही दोहाई दी।

यं पालयसि नित्यं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघव शार्दूल ! धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥

हे रघुनन्दन ! जिस धर्मका पालन नित्यही तुम करते हुए चले आ रहे हो, जिस धर्मके विषयमें कभी तुम विचलित नहीं हुए, वही धर्म और सत्य सदैव तुम्हारी रक्षा करे। अतः वेदोंमें सदैव सत्य-स्वरूप देव का ही आह्वान किया गया है।

देवस्य चेतसो महीन्द्र सवितुर्हवामहे।
सुमतिं सत्य राधसम् ॥

सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाले ज्ञानस्वरूप देव की सत्य पद पर प्रेरित करने वाली महती कृपाके लिए हम प्रार्थना करते हैं। अतः इस वेद वचनसे सिद्ध हो जाता है कि सत्यकी रक्षा, सत्य वचन बोलने की प्रेरणा, सत्यपथ पर चलनेके लिए हम सदैव वेदमें देव की प्रार्थना करते हुए चले आ रहे हैं।

इस सत्य द्वारा हमें शक्ति, पवित्रता एवं आत्मबल की प्राप्ति होती चली आ रही है। वेद, पुराण, धर्मशास्त्र सदैव हमें इस पथकी

ओर अग्रसरित करते हैं। सत्यसे यज्ञ, अहंकारसे तप तथा विद्वान् ब्राह्मणके अपमानसे आयु क्षीण होती है। दान देनेके बाद उसको कहना शास्त्रोंमें पाप कहा गया है। भगवान् श्रीरामने धर्म एवं सत्यका अक्षरशः पालन सर्वत्र किया है। धर्म शब्द धृ, धारणे धातुसे निष्पन्न होता है। जिसका तात्पर्य है धारण करना या विचार करना। विचार द्वारा ही धर्मकी सम्यक् रक्षा हो सकती है। मनुस्मृतिमें जो धर्मके दश लक्षणोंका वर्णन किया गया है उसका पालन श्रीरामजीने अपने जीवनमें किया है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।

(मनु० ६।९२)

अर्थात् धैर्य=दृढ़ता, क्षमा, दम, चित्त तथा मन की वृत्तिका निरोध करना, मन पर पूर्ण शासन करना, मनीषी होना, चोरी, अन्याय, अनधिकार चेष्टा, किसी की धन सम्पत्ति न लेना, शरीर, मन, वाणी, कर्म तथा धनकी पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह=बुद्धि एवं मन की सहायतासे इन्द्रियोंको वशमें रखना, स्वाध्याय करना, ज्ञान प्राप्त करना, बुद्धिमान एवं मेधावी बनना, विद्या, सत्य, क्रोध पर विजय प्राप्त करना, अनुचित एवं अनावश्यक क्रोध न करना धर्मके उपर्युक्त सभी लक्षण शाश्वत एवं सार्वभौमिक हैं। इन सबका पालन भगवान् श्रीरामने इस वसुन्धरा पर आकर चरितार्थ किया है। इनका पालन करने वाला सत्य एवं धर्मका स्वरूपही कहा जायेगा। अतः श्रीरामको महर्षि वाल्मीकिने **"रामो विग्रहवान् धर्मः"** के रूपमें ही दर्शन किया है। **"सत्ये धर्म इवापरः"** आदि वाक्य रामजीके लिए प्रयोग किया है।

अतः इस मन्त्र उपनिषद्का तात्पर्य है कि आडम्बर रहित होकर साधक उस सत्य सनातन परमात्माका दर्शन करनेके लिए ही यहाँ आया है, यही उसका मूल उद्देश्य है। वह निर्विकार होकर भौतिक आवरणको हटाकर सत्य या धर्मका आचरण करे। यदि ऐसा नहीं करता तो संसारमें उसका आना निरर्थक है। जीवन पद्धतिको शुभ

बनानेके लिए ही मानव जीवन है। इस धर्मका ऐसा उत्कृष्ट स्वरूप समग्र विश्वको अपनेमें समेट लेने के लिए उत्सुक है। इसी के द्वारा पुरुष महान बनता है।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा य कौल्यं च श्रुतं दमश्च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथा शक्ति कृतज्ञता च॥

ये आठ प्रकारके गुण पुरुषको प्रकाशित करते हैं। श्रेष्ठ बुद्धि कुलीनता, संयम, वैदिकज्ञान, पराक्रम, मितभाषिता, यथा शक्ति दान देना और उपकार की कृतज्ञता पुरुषको महान बनाते हैं।

अतः परमेश्वरसे प्रार्थनापूर्वक उपासक उस स्वरूपका संस्मरण करते हुए कहताहै कि प्रभु मुझे संसारके छल छद्मसे बचायें और सत्य धर्मकी दृष्टिके लिए मेरे पर अनुग्रह करें, जिससेमैं आपके सत्य स्वरूप का दर्शन कर सकूँ।

उत्तरार्धका मन्त्र इसप्रकारसे है, जो स्वामी भगवदाचार्यजी महाराज अनुग्रह करते हैं। **"तत्वं पूषन्नपावृणु, सत्य धर्माय दृष्टये" सत्यश्चासौधर्मश्च, तस्य दृष्टये-दर्शनाय प्राप्तये, तन्मुखं यद्धिरण्मय पात्रेणाच्छादितं त्वमपावृण्वनावृतं कुर्विति।**

षोडश मन्त्र

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्यव्यूहरश्मीन् समूहः।
तेजोयत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषःसोहमस्मि॥१६

अन्वयार्थ—

पूषन्=हे आश्रित भक्तोंका पालन करने वाले प्रभो! **एकर्षे**=हे प्रधान ज्ञानवान्! **यम**=हे सर्व नियन्ता! **सूर्य**=हे ज्ञानियों भक्तोंके परम लक्ष्य! **प्राजापत्य**=हे प्रजापतिके प्रिय! **रश्मीन्**=इन किरणों को, व्यूह-एकत्र करें अथवा हटा दें। **तेजः**=तेजको, समूह=समेट लें अथवा अपने तेजमें मिला लें, **रूपम्**=दिव्य स्वरूप है। **तत्ते**=आपके उस दिव्य स्वरूपको, **पश्यामि**=आपकी कृपासे ध्यानके द्वारा देख रहा

हूँ । **यः**=जो, **असौ**=सूर्यका आत्मा, पुरुषः=परम पुरुष है, **अहम् सः अस्मि**=मैं भी वही हूँ ।

भाष्य—

प्रभो ! आप अपनी निर्हेतुकी कृपा द्वारा साधकों की भक्ति साधनाको पुष्टि प्रदान करनेवाले तथा परम पोषक हैं । आप ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं । अपने भक्तोंको आप परमज्ञान प्रदान करने वाले हैं। आप सभी का अनुशासन करने वाले हैं । आप ही बड़े-बड़े ज्ञानियों यतियोंके, साधक ज्ञानियोंके और भक्त महापुरुषोंके लक्ष्यहैं । और आप अपरिज्ञेय होने परभी भक्तवत्सल स्वभावके कारण सहजही उनके ऊपर आपकी कृपाकी वर्षा होती है तथा नेत्रोंके विषय बन जाते हैं । आप प्रजापतिके भी परम प्रिय हैं । हे प्रभो ! आप सूर्यमण्डल की तात रश्मियोंको एकत्रकर अपनेमें समाहित करलें जिससे आपके कृपा स्वरूप का दर्शन करनेमें सफल हो सकूं । आपका दिव्य दर्शन मैं नहीं कर सकता । यद्यपि आपकी अविरल कृपासे सौन्दर्य माधुर्य निधिका, दिव्य मङ्गलस्वरूपका दर्शन ध्यान, चिन्तन द्वारा कर रहा हूँ और बुद्धि व्यापार द्वारा समझ रहा हूँ । आप समग्र विश्व सूर्य आदिके आत्मा हैं । तथपि मेरेभी वही आत्मा हैं और मैं भी वही हूँ । मैं आपका दास हूँ । आपकी सामीप्य कृपा मुझे प्राप्त है। इसप्रकार इसमन्त्रमें भगवानके स्वरूपका दर्शन करनेकी उत्कण्ठा भक्त या साधकने व्यक्त किया है । अतः कृपा एवं अनुग्रहकी याचना करता हूँ ।

"**गत्यर्थक** ऋषि धातुसे ऋषि शब्दकी निष्पत्ति होतीहै । **ऋषति गच्छति इति ऋषिः**" गतिभी चार प्रकारकी होती है । गति ज्ञान, गति गमन,गतिमोक्ष, गति प्राप्ति इन चारों क्रियाओंको करनेमें ऋषि समर्थ होते हैं। ऋषिका अर्थ निरुक्तकारने "**ऋषिदर्शनात्**" किया है । पूषन्का अर्थ हुआ पालक पोषक । एकमात्र द्रष्टा परमात्मा ही सर्व सामान्यको जन्म देने वाला तथा सभीका पालन पोषण करने वाला और सबका कर्ता है क्योंकि परमात्माका अवयव सर्वकाल तथा सर्वत्र

विद्यमान हैं। द्रष्टा, श्रोता, ज्ञाता, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक एकमात्र देव ही विद्यमान है, ऐसा श्रुति भगवती स्वीकार करती है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
स बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावा भूमिः जनयन्देवऽएकः।।
(यजु० १७।१६)

अखिल विश्व यह मोर उपाया। सब पर मोरि बराबर दाया।।
सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

वह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। यह समस्त जगत् इसी की कुक्षि एवं दया पर ही आश्रित है। उसी परमात्माने सभीको सहारा देकर स्थित किया है। उसीके पराक्रमसे यह सबकुछ दृष्टिगोचर होता है। नीचे ऊपर जो कुछ है सब उसीका ही हास विलास है।

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता, ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। (अथर्ववेद १०।२।२५)

इस मन्त्रमें ब्रह्मपद वाच्य श्रीरामसे भक्त निवेदन करता है कि हे संसार एवं प्रजाके पालन-पोषण करने वाले प्रभो! आप अपने तेजको मन्द करलें, जिससे मै आपका दर्शन कर सकूँ, क्योंकि आपकी कृपाके बिना आपका दर्शन कर पाना अत्यन्त कठिन है। "**यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।**" हे रामजी! यह जीव आपका है और आपके लिए है। मैं जन्म-जन्मान्तरसे आपका दास होता आ रहा हूँ। प्रारब्धवशात् सांसारिक विषयोंमें भटक गया था। अतः आपका दर्शन नहीं प्राप्त कर पाया। अतः कृपालु भगवन् इस दास पर अपनी निर्हेतुकी कृपा करें क्योंकि आपके मंगलमय-स्वरूपका दर्शन मिले विना यह दास कृतार्थ हो ही नहीं सकता है। अतः देव! अपने मंगलमय विग्रहका दर्शन स्वयं करायें।

जीवमें इतना सामर्थ्य नहीं है कि परमात्माके स्वरूपका दर्शन अपनी साधना अथवा अपने ज्ञानके बलसे वह प्राप्त कर सके। उस करुणावरुणालय परमप्रभुकी अविरल कृपा जबतक नहीं होती तबतक यह कार्य दुस्तर है। परमकारुणिक भगवान् भक्तोंके लिए स्वयं दौड़कर आते हैं। गीतामें अर्जुनने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि प्रभो! मैं आपका

दर्शन इन प्राकृत नेत्रों द्वारा नहीं कर पा रहा हूँ आप कृपा करके दर्शन दें। इसके बाद भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु प्रदान किया है— "**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्**" इस प्रकार भगवान् भक्तोंके नेत्रके विषय स्वयं हो जाते हैं। वह अनुग्रहपूर्वक कहते हैं—

यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणस्यामि स च मे न प्रणस्यति ।। गीता ।।

अर्जुन ! जो भक्त मुझे सर्वत्र देखता है तो मैं भी उस भक्तको सर्वत्र देखता हूँ। न वह मुझसे अदृश्य होता है और न मैं उससे कभी अदृश्य होता हूँ। यह भगवद् वचन है। इस प्रकार मन्त्रका स्वारस्य पूर्णरूपेण घट जाता है। वैदिक शब्दोंकी संगति भी पूर्णरूपसे बैठ जाती है। वही परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी ही संसारके कण-कण, क्षण-क्षणमें समाये हुए हैं और उन्हींमें समग्र विश्व समाया हुआ है। उसी सर्वाधार परमात्मामें सम्पूर्ण सत्यको नियंत्रित करने वाले समस्त शाश्वत अपरिवर्तनीय नियम स्थित हैं।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्युतमाहितम्।

(अथर्ववेद १०।७।२९)

वह अक्षर परमात्मा सभी का द्रष्टा, श्रोता, स्प्रष्टा, कभी न मनन करने योग्य होते हुए भी सबका मनन करने वाला है। इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है।

सूर्यका प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता, तारागण, विद्युत, सभी उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। संसारका प्रत्येक कण उसी प्रभुकी कृपासे ही अपनी अपनी ज्योति प्रकाश रूप आदि व्यक्त करते हैं—

"जगत प्रकाश्य प्रकासक रामू।"

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य—
व्यूह रश्मीन्त्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि—
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।

(यजु० काण्व० ४०।१६)

यह मन्त्र वाजसनेयि शुक्ल यजुर्वेद संहितामें नहीं है। "व्यूह रश्मीन् समूह"—इस वेद वाक्यसे पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि उस परमपिता परमात्माकी निर्हेतुकी कृपाके विना जीव अपने सामर्थ्यसे उनका दर्शन नहीं प्राप्तकर सकता है। न अपने इन चर्म चक्षुओंसे उस अगणित सूर्यकी प्रभाका दर्शनही प्राप्त कर सकता है। जिन महाभागोंको उसका दर्शन हो गया है वे कृतार्थ हो चुके हैं। क्योंकि इन प्राकृत नेत्रोंसे वह सच्चिदानन्द स्वरूपका दर्शन अपने सामर्थ्यसे जीव नहीं कर सकता है।

यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥

(रा० मा०)

जिनकी बुद्धि, मन, आत्मा तथा निष्ठा अविरल भक्ति मात्र भगवान्में विद्यमान है और सर्वतोभावेन भक्त भगवान्में ही समर्पित है, अपने जीवनके सर्वक्रियाकलापको भगवान् ही में समर्पण कर दिया है, ऐसे ज्ञानी भक्त भगवान्को ही प्राप्त होते हैं।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

दिवीव चक्षुराततम्॥ (ऋ० १।२२।२०)

भक्त लोग सदैव भगवत्स्वरूप का ही अवलोकन करते हैं। यहाँ तक कि भगवान्के चरित्रका गान, मनन, चिन्तन, आदि सभी क्रियाकलाप उनके नेत्रोंमें निवास करते हैं। एक क्षणके लिए वह परमात्मासे भिन्न नहीं होते। ध्यान द्वारा भगवान्के मंगलस्वरूपका दर्शन करता हुआ सेवा भावमें संलग्न हो जाता है तथा भगवत् कृपा प्रसादका सेवनकर कृतार्थ हो जाता है। उस साधक भक्तके कर्मभी भगवत्परक ही होते हैं। यद्यपि संसारमें फलकी प्राप्ति कर्माधीन बतलायी गयी है। कर्म करने वाला ही फल प्राप्त करता है, पर कर्म करनेमें अन्तर अवश्य होता है। जीव कर्म करता है और परमात्मा उसका साक्षी मात्र होता है।

अतः परमात्मा कहीं बँधता नहीं और जीव कर्ममें बँध जाता है। भगवत् निमित्त किये जाने वाले कर्ममें साधक बँधता नहीं। अतः उसे अभिमान आदि नहीं होते।

इन्द्रमित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
[अथर्व० ९।१०।२८]

एकही ब्रह्मका ज्ञानी लोग विविध प्रकारसे वर्णन करते हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण एवं गरुत्मान्भी कहा जाताहै और उसी ब्रह्मको मातरिश्वा भी कहा जाताहै । इस विषयको गीता में बहुत सुन्दर प्रकारसे समझाया गया है ।

वायुर्यमोऽग्निवरुणः शशाङ्कः, प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।
[गीता ११।३९]

प्रभो ! तुमही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति एवं सभीके प्रपितामह हो, अतः आपको सहस्रों बार पुन पुनः नमस्कार है। इस चराचर जगत्के पिता पूज्य एवं गुरूभी हैं। आपके अद्वितीय तेज की समानता तीनों लोकोंमें कोई नहीं है। तथा आपसे अधिक तो कोई हो नहीं सकता ।

भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।
[तैत्तिरीयोपनिषद् २।८]

उसी ब्रह्मके भयसे वायुकी गति है। सूर्यका प्रकाश है । अग्नि द्वारा विद्युत् दृश्य है। इन्द्र अपना कार्य संपादित करतेहैं। एवं पञ्चम मृत्युभी उसी ब्रह्मके भयसे ही दौड़ती रहती है। श्रीवालमीकिरामायण में श्रीरामको कहा गया है कि– "**सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः**" अर्थात् रामजी सूर्यके भी सूर्य और अग्निके भी अग्निहैं। वेदावतार श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें अक्षर ब्रह्मके रूपमें श्रीरामजी ही स्वीकार किये गये हैं ।

अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघवः । वा० रा०

त्रिकाल सत्य अक्षर स्वरूप अर्थात् आदि मध्य और अन्त सब कुछ श्रीराम राघवेन्द्रही हैं ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

उस ब्रह्मके समीप सूर्य,चन्द्र, विद्युत् किसीका भी प्रकाश नहीं रहता । उसी ब्रह्मके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र विजली आदि सभी प्रकाशित होते हैं । उसीकी ज्योतिसे ही सबकुछ प्राणवन्त एवं प्रकाशित है।

अतः जीवका बार-बार यही निवेदनहै कि प्रभुमैं आपके दिव्य मंगलमय विग्रहका दर्शन प्राप्त करूँ । "**श्रुति प्रसिद्धं ते तव रूपं दिव्य-मंगलविग्रहात्मकं पश्यामि-पश्येयम्** । [आनन्दभाष्य १६]

हे प्रभो ! तुम परम ऐश्वर्य स्वरूपहो । सभीको अनुशासित करने वाले विश्वकर्त्ता, विश्वदेव परम प्रकाश स्वरूप हो । यह समस्त जगत ही तुम्हारा आलोक है । तुम्हारे मंगलमय स्वरूप द्वाराही सूर्य, चन्द्रादिकी शक्ति प्रकाशितहो संचालित है । इस प्रकार परम पावक परमात्मासे जीव निवेदन करताहै कि प्रभ आप अपने स्वरूपका दर्शन अपनी कृपा द्वारा ही करावें, जिससे मैं और मेरा जीवन कृतार्थ हो जाये । परमात्मा इस जगत्का नियन्ता, रक्षक एवं शासक है। इसको बृहदारण्यकमें व्याख्यायित किया गया है ।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौविधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मूहूर्ता अहोरात्राण्य र्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य-प्रशासने प्राच्यो नद्यः स्पन्दते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः (बृहद्० ३।८।९)

अक्षर ब्रह्मही सबका अनुशासक है। उसकी कृपासे ही निमेष मुहूर्त्त, रात दिन, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करतेहैं । हे गार्गि ! अक्षर ब्रह्मके अनुशासनसे नदियाँ और उनकी धारायें हिमाच्छादित हिमालयसे निकलकर पूर्ण दिशामें प्रवहमान होकर संसारके तप्त हृदयको शीतलता प्रदान करतीहैं। अन्य-२ दिशाओं की ओर प्रवाहित होकर सभी दिशाओं को गौरव प्रदान कियाहै यह सब

उसी ब्रह्मकी अविरल कृपा ही है, उसीका प्रशासन है। उसी ब्रह्म-कृपासे दानदाता परिगृहीता की प्रशंसा करता है। देवगण यजमानों पर अपनी कृपा बर्षाते हैं। देवयोनि, मानव, गन्धर्व, चारण, किन्नर, अप्सरायें उस ब्रह्मसे ही प्रादुर्भूत हैं।

मूलमें तद् एतत् सत्यम्=कहा गया है। जैसे—जलती हुयी अग्निसे चिनगारी प्रकट होती है, उसीप्रकार हे सौम्य ! उस अविनाशी अक्षर ब्रह्मसे विविध प्रकारकी शक्तियाँ, क्रियायें, कलायें, देवप्राणी तथा पदार्थ प्रकट होते हैं और अन्तमें उसीकी कृपासे उसका सान्निध्य भी प्राप्त करते हैं। यह दृश्यमान जगत् उसीका प्रसार एवं कृपा-प्रसाद है—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कालं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत् ।।
(**कठ०** २।२।८)

वह परमपुरुष संसारके सोये हुए जीवोंको सदैव जगाता है और वह परमात्मा स्वयं हृदयमें स्थिर होकर जागता है। वही परब्रह्म शुक्र है, वही ब्रह्म है। उसीको शास्त्रोंमें अमृत कहा गया है, उसीके आश्रित समस्त लोक है। उसका अतिक्रमण कोई कर ही नहीं सकता। प्राजापत्य (**प्रजापतेः अपत्यं प्राजापत्यम्**) प्राजापत्य शब्दका अर्थ प्रजापतिका पुत्र हुआ। पर यहाँ यह अर्थ समीचीन नहीं है। यहाँ प्रजापतिका अर्थ अत्यन्त शक्तिसे परिपूर्ण हुआ। समग्र संसारकी उत्पत्ति पालन, संरक्षण ये तीनों कार्य ब्रह्म द्वाराहीं सम्पादित होते हैं। अतः वास्तविक रूपसे वही प्रजापति उस ब्रह्मसेही अवलोकन क्रिया प्राण क्रिया, आदि कार्य सम्पन्न होते हैं। अतः वह वेदमें प्रजापति भी कहा गया है।

व्यूह रश्मीन् समूह—भगवान् अथवा ब्रह्मके स्वरूपका दर्शन साधक करना चाहता है। वह दर्शन विना भगवत् कृपाके नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मके मंगलमय दर्शनके लिए उत्कण्ठित भक्त निवेदन करता है कि मुझपर कृपा करके अपना दर्शन दें, यही मेरी प्रार्थना है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

(यजु० ३१।१८)

अन्धकार रहित प्रकाश स्वरूप मैं उस महापुरुषको जानता हूँ। उसीका अच्छी तरह ज्ञानकर भक्त मृत्युको पारकर लेता है। मुक्तिके लिए अन्य कोईभी मार्ग नहीं है।

भजनके प्रभावसे भक्त भगवान्‌को जानता है और उस तत्त्वको अवश्यही प्राप्तकर लेता है। भगवत् सान्निध्य जीवको प्राप्त हो जाये तो उसका जीवन कृतार्थ हो गया। आगे वह कुछभी नहीं चाहता। भक्ति महारानी की कृपा जब हो जाती है तो भक्तको भगवान्‌के अतिरिक्त संसारके पदार्थ फीके, नीरस एवं क्षणिक दृष्टिगोचर होते हैं। वह सभी प्राणियोंमें अपने प्यारे प्रभुकी कृपा एवं सौन्दर्यका दर्शन करता है और अन्तमें भी यही स्मृति बनी रहती है, अतः प्रभुके पावन पादारविन्दमें वह पहुँच जाता है। वेदोंमें इस विषयका विशद वर्णन प्राप्त होता है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश ।।

(यजु० ३२।११)

संसारके प्रत्येक पक्षका अध्ययन करके सम्यक् भ्रमण करके भगवान् की अच्छी तरह भक्तिपूर्वक उपासना करके भक्त अपने प्यारे प्रभुकी प्राप्ति अवश्य ही कर लेता है। उसका निवेदन स्वयं भगवान् श्रवण करते हैं। क्योंकि भगवान्‌के अतिरिक्त उसके जीवनमें अन्य किसी का स्थान होता ही नहीं है। **'संविवेश'** का तात्पर्य मूलमें जो आया है उसका तात्पर्य भी भगवान्‌के समीपस्थ होना है क्योंकि उसके प्राणधन, जीवन-धन भगवान् ही होते हैं। अतः उसके जीवनके समग्र क्रिया-कलाप भगवान्‌के लिए ही सम्पादित होते है। अपने लिए कुछ भी नहीं होता है। अपने परमप्रभुके चरणोंमें ही परमसुख का अनुभव

वह सर्वत्र करता है। 'यः असौ पुरुषः सः अहम् अस्मि" वह जो प्राणों में पुरुष विद्यमान है, वह मैं ही हूँ।

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषुहृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः सः समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेयं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि॥ [बृहद्० ४।३।७]

जनकजी ने जब आत्म विषयक प्रश्न किया, तो उसका उचित समाधान याज्ञवल्क्यजी ने किया। जो प्राणोंके मध्य स्थिर ज्योतिर्मय पुरुष है वही दोनों लोकों में विचरण करता है। वही मनोरथ चेष्टा आदि भी करता है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आत्माका यह लक्षण है। वह लोकमें काल या मृत्यु के रूपमें परिणत होता रहता है।

जबतक यह आत्मा हृदयके किसी देशमें स्थिर रहता है तब तक ज्योतिर्मय पुरुष अनेक प्रकारकी चेष्टा एवं बुद्धिका उपयोग करता रहता है। यह आत्माही उस ज्ञानमय ज्योतिष्पुञ्जके रूपमें स्थिर रहता है। इसीके आलोकसे सभीको आलोकित करता रहताहै। शरीर को चेतन रूपमें भी वही स्थिर रखता है। अतः शरीरमें आत्मा ही प्रधान रूपमें ब्रह्मका अंश कहा जाता है। जो प्राणोंका आधार बन कर शरीरको जीवित रखता है। उसीके द्वारा यह शरीर ज्ञानशील गमनशील और क्रियाशील बनता है। यह साधक ब्रह्मसे प्रार्थना करता है कि प्रभो! आप अन्तर्यामी परम पुरुष हैं। औरमैं आपके परतंत्र हूँ। आपका कृपापात्र हूँ। आप अपनी निर्हेतुकी कृपा पूर्वक मुझे दर्शनदें, यही जीवकी याचना है। **"त्वत्परतन्त्रोऽहं तव कृपायोग्यतया पात्रभूत एवेति कृपावत्सलेन त्वया मह्यं स्वदर्शन दातव्यमिति प्रार्थना फलिता भवति॥ (ईश० १६ आ०भाष्यम)**

कुछ विद्वानोंका मत है कि साधक जब परमात्माका दर्शन कर लेताहै तो उसीमें लीन हो जाता है। पर यह बात ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म सूत्रमें इसका निरूपण किया गया है—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।(ब्र०सूत्र ३।२।२४)

श्रुतियोंका तात्पर्य है कि ध्यानावस्थामें अव्यक्त परमात्माका भी दर्शन होता है।

ब्रह्मपद वाच्य भगवान् श्रीरामकी कृपाजब भक्तके ऊपर होती है तो वहाँ भक्तका ज्ञान आत्मा, सब कुछ स्वयं भगवान्ही होतेहैं वह कैसे कृपा करते हैं इसका निर्णय श्रुति भी नहीं करती हैं वहभी मूक हो जाती है। भक्ततो उस ब्रह्मका परम प्रिय दास होता है। अतः लीन होकर वह भगवत् सान्निध्यही प्राप्त करता है।

अतः श्रुति प्रतिपादित होने वाला परमात्मा भक्तोंके नेत्रोंका विषय अपनी कृपा द्वाराही बन जाताहै। अतः इसमन्त्रमें भक्त भगवान् से दर्शनकी याचना करके अपने जीवनको कृतार्थ करना चाहता है। जिस प्रकारसे पत्नियाँ अपने पतिके आश्रयमें रहती हैं, उसी प्रकार भक्त मात्र भगवान्के आश्रयमें रहता है। अतः अपने जीवनके समस्त क्रियाकलाप भगवान्में ही समर्पित करताहै क्योंकि उसके आश्रय मात्र भगवान्ही होते हैं।

सप्तदश मन्त्र

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ यजु० ४०।१७

अन्वयार्थ–

वायुः=प्राण वायु, **अनिलम्**=समष्टि अविनाशी वायु तत्वमें, विलीन हो जाताहै। अथ इदम्=अन्तमें यह शरीर, **भस्मान्तम्**=अग्नि में राख हो जाती है। ओम्=हे सच्चिदानन्द! **क्रतो**-यज्ञमय स्वरूप भगवन्! **स्मर**=(मुझ भक्त को) स्मरण करें, **कृतम्**=मेरे कर्मों को, **स्मर**=स्मरण करें, **क्रतो स्मर**-हे यज्ञमय भगवन्! कर्मोंका स्मरण करें।

भाष्य–

इस मन्त्रमें ध्यान योगके द्वारा भगवान्के कल्याणमय स्वरूप का दर्शन करके उनकी अविरल सेवा को प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। इस शरीर के त्यागके समय सूक्ष्म एवं स्थूल

शरीर की समाप्ति को सूचित करते हुए भगवान्से प्रार्थना करता है। भगवान् स्वयं श्रीमुखसे अनुग्रह करते हुए कहते हैं कि "अहं स्मरामि मद्भक्तम् नयामि परमां गतिम्" मैं अपने आश्रित भक्तोंका स्मरण स्वयं करता हूँ।

भक्त निवेदन करता है, हे यज्ञमय भगवन्! परम प्रकाश स्वरूप परमेश्वर! आप अपने इस दीन हीन जनका और मेरे कर्मों का स्मरण करें क्योंकि अपने आश्रित भक्तों की स्तुति सदैव आपके हृदयमें लगी रहती है। अतः मेरी भक्ति प्रपत्ति का आप स्मरण करें। इससे हमारा जीवन पुण्यमय बनकर कृतार्थ होकर परमगति तथा आपके चरणोंका आश्रय प्राप्त कर लेगा।

आपकी प्रतिज्ञा है कि मैं अपने भक्तोंमें प्रेम और भक्ति प्रदान करता हूँ। भक्त मेरा साहचर्य प्राप्त करता है। इसी बातको साधक दो बार निवेदन करता है कि प्रभु आप मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण करें। मेरा अन्तकाल यदि आपकी स्मृतिमें गया तो मेरा जीवन सफल हो जायेगा।

प्रस्तुत मन्त्रमें ॐ का स्मरण करने की प्रेरणा दी गयी है। ॐ भगवान् का सर्वश्रेष्ठ नाम कहा गया है। वेदोंमें सर्वत्र ओम् की चर्चा की गयी है। प्रत्येक वेदमन्त्रके उच्चारणमें आदि अन्तमें ॐ का ही स्मरण किया जाता है। अतः उसका स्मरण करनेके लिए कहा गया है। जप करनेसे मनुष्यको सामर्थ्य और शक्ति की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा जीवनके संघर्षोंमें विजय प्राप्त करता है और उत्त-रोत्तर उत्थानके पथपर अग्रसरित होता है। ओम् में ही राम शब्द भी अनुस्यूत है। इसका जाप करनेसे मानव जीवन कृतार्थ हो जाता है। अतः मन्त्रमें उपदेश दिया गया है कि ओम् का सतत चिन्तन करना चाहिये, जिससे मन वाणी शुद्ध एवं परिष्कृत हो सके। इस शरीरका अन्त भस्म होना ही कहा गया है। अतः ओम् के जपके साथ हम अपने किये हुए कर्मोंका भी स्मरण करें। मानव जैसा कर्म करता है, उसीके अनुसार उसको फल की प्राप्ति होती है। यदि वह सत्कर्म

करता है तो वही कर्म उसके स्मृतिपटल पर अंकित रहते हैं तथा उसकी प्रसन्नताके हेतु भी वही कर्म मिलते हैं। अतः मनुष्य को प्रतिदिन अपने किये हुए कर्मोंका स्मरण करना चाहिये।

यह संसार कर्मक्षेत्र हैं। इसमें जो असत् कर्म करते हैं, अन्त समयमें उसीका स्मरण आता है और असत् कर्मोंका फलभी भिन्न होता है। वे जीवात्माको बड़े भयावह एवं मानसिक वेदना देते हैं जो कुत्सित कर्म किये गये हैं। ब्रह्महत्या, जीवहत्या आदि कर्ममें रत रहने वाले प्राणीको प्रायः घटका लगता है। आँखें बाहर की ओर निकल आती हैं। आँखोंसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। भूख लगने पर भोजन नहीं कर सकते। अपने प्रियजनके समीपस्थ होनेपर भी भयकी अनुभूति प्रायः होती है। कहीं बैल, कहीं भैंसा, कहीं सुअर, कहीं हिरण आदि सींगोंसे मारते हैं और बचाओ-२ की ध्वनि करता हुआ वह चिल्लाता रहता है। ऐसे शिकार आदि करने वालेके समक्ष ये सब क्रियायें होती हैं।

सत्य रूपमें अन्त समयके लिए जो तत्पर नहीं होता उसके सामने बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है। अपने द्वारा किये हुए अच्छे कर्मही उसके साथी होते हैं। "**धर्मानुगो गच्छति जीव एकः**" जीवके साथ अन्तिम समयमें मात्र धर्मही जाता है, और कुछभी नहीं। अतः वेद भगवान्का यह उपदेश है कि जीवको सदा शुभकर्म करना चाहिये। अन्तमें वही साथ जायेगा। कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति पञ्चतत्व को प्राप्त हो गये। इसका तात्पर्य है- पाँचो तत्व अपने-२ स्थानको प्राप्त हो गये। श्रुति भगवती स्वयं अनुग्रह करते हुए अनुमोदन करती है—**याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्यमृतस्याग्निम् वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाश—मात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीति।** [बृहद्० ३।२।१३]

जिस कालमें जारत्कारव महर्षिने याज्ञवल्य से पूछा-भगवन्! जब यह पाँच तत्व मरे हुये पुरुषकी वाणी अग्निमें, प्राण वायुमें, चक्षु

सूर्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशामें शरीर पृथिवीमें, आत्मा हृदयाकाश में और रक्त वीर्य जलमें, प्राप्त हो जाते हैं तो यह पुरुष किस स्थान को प्राप्त करता है।

इस विषय पर दोनों ने अच्छी तरह विचार किया और अन्त में निर्णय लिया कि इस संसार में कर्म ही सबसे अधिक बलवान है। जैसा कर्म जो करताहै वैसा फलाफल उसको अवश्यही प्राप्त होताहै।

आहर सोम्य हस्तमार्त्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति। तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तद्चतुरथ यत् प्रशशंसतुः कर्म हैव तत् प्रशशंसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति। ततो ह जारत्कारव आर्त्तभाग उपरराम्। (बृहद्० ३।२।१३)

पुण्य कर्मों से पुण्यकी प्राप्ति अवश्य होती है। पाप कर्मों से पाप की प्राप्ति अवश्यमेव होती है, यही निर्णय किया गया। संसार में यही दिखाई भी पड़ता है। जो बहुत बड़ा पापी होता हैं अन्तमें उसकी दुर्दशा अन्यत्र नहीं, यहीं दिखाई पड़ने लगती है। संसार के लोग स्पष्ट समर्थन करने लगते हैं कि अपने पापों का फल वह भोग रहा है। यहीं सब भोग लेना पड़ता है। श्रुति भी यही प्रतिपादन करतीहै। यह जीवात्मा कर्ममय है। जैसा सत्-असत् कर्म वह करता है, मरने के पश्चात् उसका फल उसको अवश्य ही भोगना पड़ता है।

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। [छान्दोग्य०प्रपा० ३ खण्ड १३]

जीवात्मा कर्ममय है। जीव जैसा कर्म, यहाँ कर्म क्षेत्रमें करता है वैसा ही फल भी वहाँ प्राप्त करता है। मृत्यु के बाद मुझे अच्छा फल प्राप्त हो उसके लिए हमें सत्कर्म करना चाहिए।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति॥

[मुण्डक० ३।२।७]

अर्थात् १६ कलाएँ अपने कारणमें लौट कर चली आती हैं। इन्द्रियाँ अपने-अपने कारण स्वरूप देवताओंमें लौट आती हैं। आत्मा एवं उसके कर्म भगवत् लोकमें स्थिर रहते हैं। यदि जीव कर्म उपासना एवं भक्ति परक है तो उसे भगवान् के लोकमें भगवत् सान्निध्य प्राप्त होता है तथा अपने परम प्रिय प्रभुका साहचर्य प्राप्त करके कृतार्थहो जाता है। प्रश्नोपनिषद् में कलाओं का निरूपण निम्न प्रकारसे है—

१-प्राण	५-अग्नि	९-मन	१३-मन्त्र
२-श्रद्धा	६-जल	१०-अन्न	१४-कर्म
३-आकाश	७-पृथिवी	११-वीर्य	१५-लोक
४-वायु	८-इन्द्रियाँ	१२-तप	१६-नाम

साधक भक्तो मोक्ष का परित्याग करके भगवानुकी अनपायनी भक्ति की ही याचना करता है-और वह कुछ भी नहीं चाहता। उसे अन्तमें भगवत् कृपा रूपिणी भक्तिही प्राप्त होती है।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्।। कठ० २।२।७

स्व-२ कर्मानुसार जीव विविध योनियोंमें प्राप्त होते हैं और कुछ जड़ वृक्ष,वन, पहाड़ आदि योनियोंको प्राप्त करतेहैं जिस साधक का जैसा मन चित्त बनता है, उस चित्तके साथ आत्मा प्राणमें स्थिर होता है। प्राण तेज या उदान वायुसे संयुक्त होकर आत्मा अपने साथ ज्ञान और कर्मानुसार अभिप्रेरित लोक या योनि को प्राप्त करते हैं।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसः।
युक्ता सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।। प्रश्न० ३।१०

मरणकाल में यह जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार ही सुख एवं दुःख का अनुभव करता है। यदि उच्चकोटि का साधक है तो उसी प्रकार का अनुभव उस काल में जीवात्मा का होता है। इसी बात को उपनिषद् भी स्वीकार करती है। लोग कहते हैं—यह अब बोलते नहीं, सुनते नहीं, सूंघते नहीं, खाते नहीं, स्पर्श नहीं करते हैं, उसकाल में प्राण वायु के सहित सभी वायु हृदयमें स्थिरहो जाते हैं और नेत्रोंसे

यदि जीव भगवत् स्वरूपका दर्शन करता है तो वह भगवल्लोक को ही प्राप्त करता है। यदि वासनाओंका चिन्तन करता हो तो उसीको प्राप्त करता है। यदि किसी जीव विशेषका चिन्तन करता हो तो वही बन जाता है। उसीका भगवती श्रुतिभी प्रतिपादन करती है—

एकी भवति न पश्यति इत्याहुः, एकी भवति न जिघ्रति इति आहु, एकी भवति न रसयत इत्याहुः०। एकी भवति न शृणोति इत्याहुः, एकी भवति न मनुते इत्याहुः, एकी भवति न स्पृशति इत्याहुः, एकी भवति न विजानाति इत्याहुस्तस्य हैतस्यहृदस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा-अनूत्क्रमन्ति स विज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च । [बृहद्० ४।४।२]

प्राण वायुके निर्गमन कालमें जाने वाला मार्ग पूर्ण आलोकित हो जाता है। उसी प्रकाशित मार्गसे जीव निकलता है। यदि यह जीवात्मा परम भक्त या ज्ञानी रहा है और भगवान्के लोकमें पधरने वाला है तो उसका प्राण चक्षुसे होकर निकलेगा। यदि ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कारण है तो प्राण मूर्धासे निकलेगा। यदि शरीरके किसी अन्य भागसे बाहर निकलता है तो उस आत्माके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ प्राण उत्क्रमण करता है। उस कालमें वह आत्मा पूर्ण ज्ञानी होता है। स्वप्नवत् अपने कर्मवश विशेष ज्ञानवान् है, स्वतंत्र नहीं।

यदि उच्चकोटि का साधक भक्त है तो उसे पूर्ण ज्ञान रहता है। अपने कर्मोंके साथ जिस कालमें जीव स्थिर होता है तो उसके पवित्र कर्म उसको स्वयं प्रकाशित करने लगते हैं। तब वह अपने पूर्व कर्मोंकी स्मृति करके शोकग्रस्त नहीं होता और यदि असत् कर्मोंका अनुगमन करने वाला वह प्राणी हुआ तो अन्धकारसे आच्छादित मोहग्रस्त होकर भयभीत हो जाता है और यातना की प्रतीक्षा करने लगता है क्योंकि इसके पूर्व वह यही सब कर्म करके आया है। अतः उसी की स्मृति बार-२ उसके मनमें आती रहती है। सबकुछ उसको भयभीत

करता रहता है, उन्हीं कर्मोंके अनुसार ही वह स्थानको भी प्राप्त करता है। उसीके अनुसार उसको ज्ञान भी रहता है। आत्माके साथ उसके ज्ञान तथा कर्मके साथ-२ पूर्वप्रज्ञा अनुभूत विषयोंकी वासना भी जाती है।

आत्मा निकल जानेपर कुछभी अवशिष्ट नहीं रह जाता, मात्र भस्म रहता है। अतः ओ३म् ही भगवान्का स्वरूप माना गया है। ओ३म् ही ब्रह्म है। ओ३म् आकाशके समान सर्वव्यापक है। रामजीके समान कण-२ में अभिव्याप्त है। समग्र संसारको रमण भी कराने वाला वही ओ३म् भी है। अतः ओ३म् की महिमाका वर्णन वेदोंमें यत्र-तत्र सर्वत्र बड़े ही समारोहके साथ किया है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि, ओमित्येतत्।

[कठ० १।२।१५]

वेद भगवान् जिस परमपद का सर्वत्र प्रतिपादन करते हैं। समस्त तप जिसको प्राप्त करनेके साधन हैं। जिसको प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मचर्यादि व्रत का पालन करते रहते हैं, वह पद मात्र ओ३म् है जिसका तात्पर्य मैं तुमको कहता हूँ, श्रवण करो।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।

(१।२।१६)

यह अक्षर तत्व ही ब्रह्म है और यह अक्षर ही सर्वश्रेष्ठ है। इस अक्षर को ही जानकर जो अभीष्ट होता है उसको प्राप्त हो जाता है। इस परब्रह्मतत्व की उपासना से जीव को अभीष्ट फल एवं कामना की प्राप्ति होती है। जो वेदोंमें भगवत् स्वरूप कहा गया है, इसी अविनाशी तत्व ॐ की उपासना करनी चाहिए। इसी से साधक भक्त सबकुछ प्राप्त करता है। भक्ति प्रपत्तिका भी मूल यही है।

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० समाधि २७)

परब्रह्म का वाचक प्रणव अर्थात् ॐ कहा गया है।

ॐ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।। मु० २।२।४

इत्यादि श्रुतिषु प्रणवद्वारकात्मसमर्थस्य दर्शितत्वात् तदेवेहापि प्रतिपादितम् । यद्वा पूर्वार्धेन जीवात्मनो विवेकमुपदर्श्य ॐ इत्यनेन परमात्मानं विविनक्ति प्रणवस्य परमात्मवाचकत्वात् तस्य वाचकः प्रणवः (आनन्द भाष्यम्)

ॐ ही धनुष आत्मा शर और लक्ष्य ब्रह्म है। प्रमाद रहित होकर उसको बेधना ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिए। वेदोंमें ओंकार आत्म-समर्पण का प्रतिपादन किया गया है। जीवात्मा के विवेक दिखाकर ॐ स्वरूप परमात्मा के स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। ॐ परमात्मा का ही वाचक हैं।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।। [माण्डूक्य ४]

ॐ सर्वेश्वर है। यह सर्वज्ञ है। यह सभी में अन्तर्यामी रूप से स्थित है। यह समस्त जगत् का कारण है। तथा समस्त प्राणी, पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदिका भी कारणहै। वही परमात्मा है। इस प्रकार परमात्मा की उपासना करना ॐ की उपासना करना हैं और ॐ की उपासना परमात्माकी उपासना हैं। भक्ति एवं प्रपत्ति पूर्वक किये गये ॐ के जपसे श्रेष्ठ कर्म एवं ज्ञान की सहायतासे तथा करुणामय भगवान्‌की कृपासे मानव निश्चय रूपसे ब्रह्मकी प्राप्तिकर सकता है। वेदोंमें इसका पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्म प्राप्तिके लिए ॐ की उपासना कही गयी है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः,
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ॐ इत्येवं ध्यायथ आत्मानं,
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ।।

[मुण्डक २।२।६]

इस शरीर रूपी नाभिमें अरोंके समान जिस स्थान पर यह नाड़ी का जोड़ है, वहाँ हृदयाकाश में यह परमात्मा अनेक प्रकार से उत्पन्न होते हुए अन्दर स्थित हैं। अज्ञान के अन्धकार से दूर संसार सागरसे पार होने के लिए उस परमात्मा का ओम् या राम के रूपमें ध्यान करो, जिससे तुम्हारा मङ्गल हो।

इस मानव जीवन का परम लक्ष्य परब्रह्म परमात्मा है। उसी का साक्षात्कार होने के पश्चात् ही जीवन का ताप मिटता है और इस संसार सागरमें आना भी सफल माना जाता है। जन्म-मरण के चक्रसे मुक्ति पाने के लिए भगवान् की भक्ति उनका भजन या ॐ का अनुष्ठान आदि करने पर सिद्धि की प्राप्ति होती है।

वेद का अध्ययन करने से भी अन्तःकरण तब तक पवित्र नही माना जाता, जब तक भगवत् चरणोंमें रति न हो जाय। जहाँ ब्रह्म की उपासना न हो सके वहां वेद का अध्ययन भी भार स्वरूप है। वहाँ वेदकी ऋचायें भी कोई लाभ नहीं पहुँचा पाती हैं। अतः ब्रह्म की उपासना सर्वत्र प्रतिपादित की गयी है।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।

[ऋगवेद १।१६४।३९]

जो ब्रह्म एवं उसकी उपासना नही जानते, वे वेदाध्ययन से शान्ति एवं लाभ नहीं प्राप्त कर पाते। जो जानते हैं और उपासना पूर्वक उसका अनुष्ठान आदि करते हैं, उनका जीवन कृतार्थ हो जाता है। उनके जीवन में एक प्रकारकी स्थिरता एवं तत्परता आ जातीहै। ॐ का पर्याय परमात्मा है और वेदोंमें उपासना पर बल दिया गयाहै।

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं,
तनोत्वरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु।
विश्वेदेवासऽइह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ। यजु० २।१३

समग्र भारतीय जीवन एक यज्ञके रूपमें वर्णित किया गया है। हमें जो कुछ प्राप्त हुआ है वह यज्ञके द्वारा ही प्राप्त हुआ है।

अतः बार-२ यह बात सिद्ध किया गया है कि हम यज्ञका ही अनुष्ठान करें। हमारा हृदय यज्ञमय रूपको धारण करे। हमारा समग्र जीवन यज्ञका संकल्प वाला हो जाय। हमारा यज्ञ सर्वदा हिंसा से रहित हो। हमारे जीवनका विस्तार यज्ञ द्वारा ही सम्पादित हो। यज्ञको हम धारण करके उसकी रक्षाभी करें तथा सभी लोगोंको हम यज्ञकी प्रेरणा देते रहें। सभी विद्वान ॐ स्वरूप परमात्माकी उपासना भक्तिपूर्वक करके लोकमें आमोद-प्रमोद उपभोग करे।

इस प्रकार उपरोक्त मन्त्रमें उपासना पर विशेष बल दिया गया है और उसको श्रेष्ठ कर्मके रूपमें ग्रहण किया गया है और यज्ञमय, त्यागमय एवं आनन्दमय जीवन व्यतीत करनेका उपदेश किया गया है। भारतीय मनीषियोंका जीवन सदैव उपासना एवं त्यागमय यज्ञमय ही रहा है। आज इसकी कमी होनेसे हम आत्महीन हो रहे हैं। वेदमें भगवान्‌को उपास्यदेव तथा सखाके रूपमें भी वर्णित किया गया है। **"सखा सखिभ्य ईड्यः"** कहकर उसको स्वामी, सेवक एवं मित्रके रूपमें स्थापित किया गया है। महाभारतमें तो परमात्माको मित्रके रूपमें ही वर्णन किया गया है। परमात्माको वेदमें ओ३म् का ही रूप बताया गया है। **"तदेतदक्षरं ब्राह्मणो यं काममभिच्छेत् त्रिरात्रो पोषितः प्राङ्मुखो वाग्यतो बर्हिष्युपविश्य सहस्रकृत्वः आवर्तयेत् सिध्यन्त्यस्यार्थाः सर्वकर्माणि चेति ब्राह्मणम्।** (गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग १।२२)

उस अक्षर स्वरूप ब्रह्मका जप करनेसे इच्छित फलकी प्राप्ति भी कही गयी है। पूर्वाभिमुख होकर कुशासन पर बैठकर उपवासपूर्वक ३ रात्रि तक अनुष्ठान करनेसे सहस्र बार जप करनेका विधान कहा गया है।

कृतं स्मरः—मानवको अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है तथा स्वकर्मानुरूप ही दूसरे जन्ममें भी प्राप्त होते हैं। अतः यह उसका कल्याण ही है कि अपने कियेहुए कर्मोंका प्रतिदिन स्मरण करे और निकृष्ट कर्मोंका त्याग करके उच्च कर्मोंका अपने लिए पुण्य

यश की प्राप्ति करें। अपने उन्नति पथका निर्णायक वह स्वयं होकर जीवन आलोकित कर सकता है।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः।।
(श्वेताश्व० ५।७।१)

जो त्रिगुणसे विशिष्ट इन्द्रियों से विषयों का चिन्तन करने वाला और फल की इच्छासे कर्म करने वाला है वह अपने कर्मों को भोगने वाला है। विविध योनियों में अनेक रूप धारण करने वाला त्रिगुण से युक्त होकर शरीरमें स्थिर रहने वाला कर्मानुसार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट, मार्गसे गमन करने वाला, विविध योनियोंमें भ्रमण करके स्वकर्मानुसार अनेक योनियोंमें विचरता है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते।। (चाणक्य ६।९)

यह जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं उसका फल भी भोगता है। वह स्वयं संसारमें भ्रमण करता हुआ स्वयंही मुक्त होनेका कारण भी बनता है। इस विषय का उपनिषदों में अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमय वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद् तदेतदिदम्यथोऽदोमय इति यथा कारी यथा चारी तथा भवति। साधु कारी साधुर्भवति पापकारो पापोभवति पुण्यः पुण्येन कर्मणः भवति पापः पापेन। अथोखल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो-भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते (बृहद्० ५।४।५)

आत्माके विषयमें यह बिचार किया गया है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय,चक्षुर्मय, श्रोत्रमय,पृथ्वीमय,जलमय, वायुमय, आकाश मय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय,

धर्ममय, अधर्ममय, तथा सर्वमय है। दृश्य जगत यत्किञ्चित् दृष्टिगोचर हो रहा है। सब आत्मा ही है। यह जीवात्मा ब्रह्म का अन्श या भाग होने के कारण नित्य शुद्ध भी है और अज्ञानसे आच्छादित होने से अज्ञानी भी है। अतः इसका साहचर्य शरीरमें होने से बुद्धि ज्ञान तथा मन के साथ संयुक्त होने के क़ारण यह ज्ञानमय अज्ञानमय तथा मनोमय हो जाता है। प्राण एवं इन्द्रियोंके साथ संयुक्त होनेके कारण यह प्राणमय तथा चक्षुर्मय होता है। पञ्चमहाभूतों से निर्मित यह शरीर संसारमें पृथिवीमय, जलमय आदि हो जाता है। सत्य रूपमें यह सबसे भिन्न असङ्ग एवं निर्लिप्त है।

उसी प्रकार वह तेज-अतेज, क्रोध-अक्रोध, धर्म-अधर्म के साथ संयुक्त होता हुआ तेजोमय, अतेजोमय, धर्ममय, अधर्ममय हो जाता है। सृष्टिमें सभी कुछ है। यह सभीके साथ संयुक्त होनेके कारण वास्तव में सर्वमय है।

जीव और प्रकृतिके संयोगसे ही सृष्टिका निर्माण हुआ। अतः संसारमें विविध प्रकारकी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इस शरीर द्वारा जैसा कर्म होता है उसी प्रकारकी वृत्ति बन जाती है। शुभ कर्मोंका आचरण शुभ क़ी ओर अभिप्रेरित करती है। पुण्य क़र्म करने वाला पुण्यकी ओर ही आता है और वह पुण्यात्मा हो जाता है। पाप कर्म करने वाला पापी हो जाता है।

अतः स्पष्ट हो गया कि जीवनका पक्ष अपने क़र्म और आचरण पर ही आश्रित होता है। मानव अपने कर्मों द्वाराही पुण्यात्मा और पापात्मा का रूप धारण करता है। वेदोंमें पुरुष काममय क़हा गया है। वह जिस प्रकारकी क़ामना करता है। और जिस प्रकारका वह संकल्प करने लगता है उसी प्रकार वह कर्म क़रता है। जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस भाव को अपने मानसमें व्यक्त किया है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।
कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

[रा० मा०]

वास्तवमें संसार कर्म प्रधान कहा गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मोंका निरीक्षण करना चाहिये और आत्मनिरीक्षण करना चाहिये कि मैं जो कर्म कर रहा हूँ वह शुभ है अथवा अशुभ है, क्योंकि फलाफल भी उसीके अनुसारही प्राप्त होना है। भगवद्भक्ति, सत् आचरण, पुण्य एवं शुभ जीवन विशेष लाभप्रद कहे जाते हैं। यह प्राण उस परमपिता परमात्मामें लीन हो जाय अर्थात् भगवत्-सन्निधि प्राप्त करे। यह शरीर जलकर राख हो जाय। हे दृढ़ संकल्प-मय प्रभो ! मेरे कर्मोंको आप कृपापुर्वक स्मरण करें, पर यह अर्थ अच्छा नहीं है। अतः यहाँ ईश्वरके चरित्रका स्मरण करनेकी प्रेरणा दी गयी है। "कृतं स्मर" यहाँ **कृतं** शब्दके द्वारा नाम, रूप, लीला, धाम अथवा रूप, गुणका और कर्मका सकेत किया गया है। ईश्वरके 'कृत' को उसकी महती कृपा एवं उपकार का स्मरण करो, यह अर्थ यहाँ समीचीन है। उस परमात्माके नाम, रूप, गुण आदिका हम यशोगान करें। अपने जीवनके समग्र क्रियाकलाप उस परमात्मामें समर्पित करदें। मानव जीवनका यही परमलक्ष्य है, इससे उत्तम अन्य कुछभी नहीं है।

क्रतो स्मर, कृतं स्मर—इस मन्त्रमें इस चरणका दो बार उच्चारण किया गया है जो सहेतुक है। यहाँ संकेत किया गया है कि अन्तकालमें सत्य संकल्प प्रभु श्रीरामजीके अनेक गुणोंका स्मरण करना अत्यन्त आव-श्यक है। जीवनके अन्तिम क्षणमें जिसने ईश्वरका स्मरण कर लिया उसका पूरा जीवन कृतार्थ कहा जाता है। **अन्त भला तो सब भला** कहा जाता है, उसका तात्पर्य यही है। अतः मन्त्रमें उसीका ध्यान स्मरण करते हुए प्राण छोड़नेसे जीव यम-यातनासे मुक्त हो जाता है। अतः मन्त्रमें उसीकी ओर निर्देश किया गया है। गोस्वामीजीने लिखा है—

जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

वानरराज वालिने रामतत्व या नाम स्मरणको अन्तकालमें इतना बड़ा महत्व देकर इस उपनिषत् तत्वका ही स्थापन किया है। अनेक प्रयत्न

करनेपर भी नाम स्मरण प्रायः नहीं होता और यदि हो जाय तो प्रभु कृपाही है।

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।

अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः॥ (मा० का० १।२६)

प्रणव परब्रह्म कहा गया है। प्रणव अपूर्व अनन्तर अबाह्य अनपर तथा अव्यय है। परब्रह्मसे उत्पन्न यह सृष्टि ब्रह्मस्वरूप है।

इसी प्रकार प्रणवको पीछे धनुःवरूप प्रतिपादित किया है। **धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रम्।** (मु० २।२।३१) यहाँ प्रणव रूप धनुष को महास्त्रकी संज्ञा दी गयी है। एकादश स्कन्ध की विभूतिमें भगवान् स्वयं श्रीमुखसे अनुग्रह करते हुए कहते हैं कि **"आयुधानां धनुरहम्"** उत्कृष्ट अस्त्रोंमें मैं धनुष हूँ। यह धनुषवाण का चिह्न श्रीरामानन्द सम्प्रदायकी दीक्षा समय बाहुमूलमे अंकित करनेका विधान अनादि-कालसे चला आ रहा है। **"प्रणवधनुषः समाकर्षणं चेतसा किंस्वरूप-मिति चेज्जीवात्मपरमात्मनो शेषशेषि भावरूपम्।"** (आ० भाष्य) अर्थात् जीवात्मा और परमात्माका शेषशेषी भाव सम्बन्ध है, क्योंकि धनुष वाणका सम्बन्ध इसी ओर इगित करता है।

इसीके द्वारा भगवान् रामने अज्ञान रात्रिरूपा राक्षसी वृत्तियोंका विनाश किया जो अपने कालका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस महत्वको धारण करने वाला संसारमें अन्य कोई नहीं था, बहुत बड़े आत्मोत्सर्ग की आवश्यकता समाजको इसके लिए थी जिसको रामजीने पूर्ण किया उसीका निर्देश इस मन्त्रमें किया गया है।

कर कमलनि धनुसायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥
(रा० मा०)

रामजी धनुषवाण फेरते हुए यदि किसीको देख लेते हैं तो उसके अनन्त जीवनकी जरनि मिट जाती है।

अष्टादश मन्त्र

दीर्घतमा ऋषिः। आत्मा देवता। निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥१८॥

अन्वय— अग्ने ! अस्मान् राये सुपथा नय, विश्वानि वयुनानि विद्वान् अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम।

अन्वयार्थ— हे अग्रगामिन् ! प्रकाशस्वरूप प्रभो ! हमें ऐश्वर्य, वैभव एवं सर्वतोमुखी मङ्गलके लिए सुन्दर शुभ मार्गपर ले चलें, क्योंकि आप हमारे समस्त कर्मों, हृदयके भावोंके परम ज्ञाता हैं। मेरे जीवनके कुत्सित एवं कुटिल विचारोंको पृथक् करदें। हम आपको पुनः-२ प्रणाम करते हुए आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति एवं प्रार्थना अथवा उपासना करते हैं।

भाष्य—

इस मन्त्रमें पूर्ण शरणागति की चर्चा की गयी है। यहाँ साधक भगवान्से सेवाकी याचना करता है और भगवान्की सर्वदा सेवा करना चाहता है। भक्तका निवेदन है कि प्रभु मैं आपकी भक्ति सदा करता रहूँ और नाम, रूप, लीलाका चिन्तन सर्वदा करता रहूँ। अपने परम प्रभुका दर्शनकर मेरे नेत्र कृतार्थ हो जायें, यही मेरी याचना है। इस मन्त्रमें एक बड़े महत्व की बात कही गयी है कि हम चाहे जो कार्य करें, पर यह कभी भी नहीं भूलना चाहिये कि हम जो भी करते हैं उसको परमात्मा देखता है और उसीके अनुसार हमारी सभी प्रवृत्तियाँ बनती हैं। अतः हमें चाहिये कि हम शुभ कर्मोंकी ओर बढ़ें, जिससे हमारे विचार, भावनायें शुभ एवं मंगलकारी हों। हम सोचते हैं कि हम दुराचार करें-कोई नहीं जानता, पर यह मेरा मात्र भ्रम है। भगवान् हमारे कर्मोंको नहीं अपितु हृदयमें अन्तर्निहित भावोंको भी अच्छी तरह जानते हैं, उनसे कुछ छुपाया नहीं जा सकता।

अतः सुपथ पर चलनेके लिए ज्ञान, विचार, दृढ़विश्वास और आस्तिकता की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि हम अपने हृदयमें यह विचार करें कि हमारे सभी कर्मोंको भगवान् जानतेहैं तो हमसे दुष्कर्म कम होगें और हमारा जीवन शुद्ध एवं सरल हो जायगा तथा सम्पूर्ण जीवन शुभ की ओर प्रेरित हो जायेगा।

जीव भगवान्का अन्श है । वह मायासे आवृत होकर भगवान् को भूलकर संसारमें संलग्न हो जाता है । जब जीवमें विवेक उत्पन्न होता है तो वह अपने अंशीको आत्मसमर्पण कर देता है । भक्त जब सर्वभावसे भगवान्में समर्पित हो जाता है तो उसके जीवनके समस्त भार भगवान् स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं और उसे चिन्ता मुक्त कर देते हैं । शरणागत की रक्षा की प्रतिज्ञा भगवान् स्वयं करते हैं । भक्त भगवान्से निवेदन करता है सुपथ पर ले चलने की । भगवान् स्वयं अनुग्रह करते हुए कहते हैं कि केवल एकबार दीन होकर **'मैं आपकाहूँ'** यह प्रतिज्ञा अथवा याचना करने वाले प्राणियों पर मैं दया करके अभयदान कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है । मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने यह प्रतिज्ञा सर्व तीर्थपति समुद्रके तटपर अपने वानर,भालु भक्तों के मध्य किया है ।

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।।

[वाल्मीकि रा० ६।१८।३३]

श्रीवैष्णवाचार्योंका यह शरणागति का चरम मन्त्र माना जाता है । शरणागति के कुछ विशेष नियम हैं । ब्रह्म सूत्रमें **"आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।।** ४।१।४१ यहाँ उपासना का आवर्त्तन बार-बार करना चाहिये, श्रुतिमें अनेक बार इसके लिये उपदेश किया गया है । **आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः,श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः०**, ही दर्शनीय,श्रवणीय मननीय एवं ध्यान करने योग्य है । विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक उस परमेश्वर की उपासना करने से उसको प्राप्त करता है ।

"उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः" जो निरभिलषित साधक उस परम पुरुष की उपासना करते हैं वे इस रजोबीर्यमय शरीर को पार करके प्रभुके पावन पादारविन्द में पहुँच जाते हैं, परन्तु प्रपत्ति की आवृत्ति बार-बार नहीं, एक ही बार की गयी है । जैसे कन्या का विवाह जब एकबार वर के साथ हो जाता

है तो उसका निर्वाह वह जीवनभर करता है। उसी प्रकार शरणागत का निर्वाह एवं उसकी सद्गति रामजी करते हैं।

प्रपन्नाय का तात्पर्य दीनतासे है जो प्रपत्तिमें अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ कायिकी प्रपत्ति का भाव दर्शाया गया है।

तवास्मि इति च याचते- प्रभो ! मैं आपका हूँ। वाचिकी शरणागति का भाव यहाँ कहा गया है। **तू मेरो यह बिनु कहें उठिहौं न जनम भरि (विनय पत्रिका २६७)**

वारक कहिये कृपाल तुलसि दास मेरो (विनय पत्रिका ७८)

यहाँ मुमुक्षु के कथन पर कहा गया है कि वह कह तो देता है कि प्रभु मैं तुम्हारा हूँ, पर इसप्रकार की प्रवृत्ति सदैव नहीं रहती। अतः इस सामर्थ्य की याचना वह भगवान्से सदैव किया करता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि—संसारके सभी प्राणियोंसे उसे अभय-दान मिलता है और ऋणत्रयसे उसको भय नहीं रहता है। यमराज की ओर से भी वह निर्भय हो जाता है। क्योंकि अभय पद मोक्ष प्राप्ति का बोधक कहा जाता है। अतः जीव बार-बार अपने प्रभुसे सुपथपर ले चलनेकी प्रार्थना करता है, जिससे उसका जीवन शुभ-कर्मोंमें ही संलग्न रहे। अग्निदेवका सम्बोधन करके अपने जीवनमें भगवान्से प्रकाशकी प्राप्ति चाहता है, जिससे समग्र जीवनपथ ज्ञाना-लोकसे, दृढ़तासे और विश्वाससे परिपूर्ण हो जाय। क्योंकि भगवान्से निवेदन तथा उनकी कृपाके लिए भक्ति, विनम्रता, सरलता तथा निष्कपटताकी अत्यन्त आवश्यकता है। यदि भगवान्के भक्तमें अहंकार या दम्भ आ गया तो सर्वनाश हो जाता है, क्योंकि दम्भी अहंकारी प्रायः पापों की ओर अग्रसरित हो जाता है। जैसे रावण, कंस आदि ज्ञानी होते हुए भी, भगवत्तत्व बोध होने पर भी पापों से, अहंकारसे जहाँ उनको पहुँचना था, नहीं पहुँच पाये। अतः मन्त्र के चौथे पाद में भक्त या जीव भगवान् से निवेदन करता है, याचना करता है कि प्रभो! मैं आपकी अर्चन पूर्वक उपासना करता हूँ कि आपके चरणोंमें

मेरी दृढ़ निष्ठा एवं भक्ति हो और आपके चिन्तनमें मेरा मन सदा संलग्न रहे। यह आपकी कृपा के बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं है। आपकी अनुकम्पा के बिना मेरे पाप, अहंकार, छल, छद्म मुझसे दूर नहीं होगें, न हम सुपथ पर चल सकेगें और हम सुख एवं वैभव भी नहीं प्राप्त कर पायेगें। अतः मुझे कृपा पूर्वक सुपथ पर ले चलें। मन्त्र का यह तात्पर्य अपने आपमें बड़ाही सहेतुक एवं समन्वय स्थापित करता है और जीवन के लक्ष्य की ओर प्रेरित करता है।

अग्ने नय अस्मान्—मानव जीवन की सफलता उसके सुकर्म पर ही आधारित है, और उसकें कर्म के बिना उसका अभ्युदय सम्भव नहीं है। (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३)

नाना श्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥

चरैवेति—चरैवेति

इन्द्र द्वारा रोहित के लिए जो शिक्षा दी गयी है वह अत्यन्त स्पृहणीय है। रोहित ! इस संसारमें जो स्वयं कर्मशील नहीं है, जो जीवन के कर्मपथ पर चलते हुये पूर्ण श्रमित नहीं होता उसको श्री सम्पति कभी भी वरण नहीं करती है। प्रमादी जनों के मध्य बैठकर जो जीवन यापन करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, वह निरर्थक समय यापन करता है, अकर्मण्य होकर जीवन बिताता है। इसप्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति भी प्रायः श्रीहीन हो जाता है और उसे अभिलषित सुख भी नहीं मिलते। वह पाप का भागी होता है तथा स्वयं तुच्छहो जाता है। इसके विपरीत सदा गतिशील, सतत प्रयासरत रहने वाले, लोगों का मित्र, बन्धु स्वयं परमात्मा ही होता है। अतः श्रुति कहती है— "चलते रहो, चलते रहो।' अर्थात् भगवान्में दृढ़ आस्था पूर्वक जीवन पथ पर चलते रहो।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥ चरैवेति-चरैवेति

[ऐतरेय ब्रा० ३३।३।]

उद्योग हीन होकर बैठने वाले व्यक्तिका भाग्य बैठ जाता है। उठकर खड़े होने वाले का भाग्य भी उठकर खड़ाहो जाता है। सोने वाले का भाग्य सो जाता है और सदा चलने वाले का भाग्य सदैव चलता रहता है। अपने को बनाने वाला मनुष्य स्वयं है उसे कोई दूसरा नहीं बना सकता। धर्म, अधर्म, तप, इन्द्रियदमन, प्रमाद इन सब का निर्मायक स्वयं मनुष्य है। ये सब उसके ही हाथमें हैं।

शास्त्रोंमें कहा गया है, निद्रामें पड़े रहना कलियुग है। जागना द्वापर है। उठकर खड़ा होना त्रेता है तथा चल पड़ना सत्ययुग है। **कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उतिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ।। (ऐतरेय ब्रा० ३३।३)**

तापस मधु प्राप्त करता है। चलता हुआ मनुष्य स्वादिष्ट फलों को प्राप्त करता है। भगवान् भास्कर निरंतर चलते ही रहते हैं। वह विश्राम कभो नहीं करते। वे जीव जगत्के प्रेरक हैं। व्यक्ति चाहे जितना विद्वान एवं योग्य क्यों न हों, यदि वह गतिशील नहीं होगा, पुरुषार्थी नहीं होगा तो वह जीवनमें कुछभी नहीं कर पायेगा। चलती चींटी हजारों योजन दूर चली जाती है। न चलता हुआ गरुड एक पगभी आगे नहीं बढ़ सकता है। **गच्छन् पिपीलको याति योजनानां शतान्यपि। अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ।। (सुभाषित)** भूत सीमित है। भविष्य असीमित है। व्यतीत होनेके कारण भूतकाल सीमितहै। उसे बढ़ाना-घटाना कठिनहै परन्तु भविष्य की सम्भावनायें अनन्त हो सकती हैं। यह जानकर पुरुषको सदैव कर्मठ होना अत्यन्त आवश्यक है, रुक जाना मृत्यु है। **प्रमादो वै मृत्युः** गतिशीलता जीवन है। मन्त्रमें रयि का प्रयोग किया गया है। जिसका तात्पर्य है प्रभो! मुझे मङ्गल (अभ्युदय) की ओर प्रेरित करें। हम अध्यातम, तप, धर्म, सत्य, सत्कर्म के साथ-साथ ऐश्वर्यवान् भो बनें, जिससे हम अपनी एवं अन्य की सहायता करने में पूर्ण सक्षम हो सकें।

यही भारतीय संस्कृतिका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप रहा है जो सभी को समृद्धि सम्पन्न होनेका स्पष्ट आदेश देता है। इस मन्त्रमें 'सुपथा' का प्रयोग इसीलिए किया गया है।

यह सभी समृद्धि हमें सत्य और धर्मके माध्यमसे मिले, असत्य, अधर्म एवं भ्रष्टाचारपूर्वक नहीं। किसीको धोखा देकर अन्यायसे भी नहीं। धर्म अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टयमें धर्मको प्रथम स्थान दिया गया है। यह प्रत्येक व्यक्तिके लिए ध्यातव्य है कि काम जीवनका महत्वपूर्ण अंग है, अतः उसे धर्मानुसार ही प्राप्त करना चाहिये, अधर्म, असत्य, अन्याय, अनीतिसे नहीं। मोक्ष परम लक्ष्य है, जो सामान्यतया अर्थ और कामके बाद ही चतुर्थ आश्रममें प्राप्त किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि इस मन्त्रमें हमारे जीवनके लक्ष्य पूर्णरूपेण प्राप्त हैं।

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः। स नः पूर्णेन यच्छतु॥
[अथर्ववेद ७ १७।१]

समग्र संसारको धारण पोषण करने वाले प्रभो! सभीके शासक एवं रक्षक स्वामिन्! हमें वैभव प्रदान करो। हम अपने जीवनमें सभी प्रकारकी समृद्धि एवं अभ्युदय का दर्शन करनेमें सक्षम हों। यहाँभी जीव भगवान्के शरणमें पहुँचना चाहता है और शुभकर्मोंके द्वाराही सबकुछ याचना करता है और कहता है कि हम आपकी शरणमें हैं। हमें इस प्रकारका धन, ऐश्वर्य प्रदान करें, जिसके द्वारा हमारा जीवन मंगलमय हो सके।

जो साधक जीवनके प्रत्येक सुखकी याचना मात्र भगवान्से करता है उसके द्वारा पाप कम ही होते हैं और शुभ अधिक होता है। भगवत्कृपा द्वारा प्राप्तकी गयी समृद्धि अन्तःकरणको पवित्र करती है एवं व्यभिचारसे पाया हुआ धन, वैभव कुमार्ग परही ले जाने वाला होता है जिससे उससे अशुभ कर्म ही अधिक होते हैं।

मूर्धा रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम्। **[अथर्ववेद १६।३।१]**

हे प्रभो ! आप हमारी प्रवृत्तियोंको समृद्धशालिनी बनायें जिससे मैं अपने समकक्ष दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ बन सकूँ। यहाँ धन द्वारा सदाचारी बननेकी प्रार्थनाकी गयी है। अर्थागम दूषित होनेपर परिवार और समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। आज देशके कर्णधार लोगभी इसका विचार नहींकर पा रहे हैं। यही कारण है कि राष्ट्र, परिवार और समाजपर भी इसका बहुत बड़ा दुष्प्रभाव पड़ रहा है। एक कहावत है-**जैसा खाय अन्न वैसा बने मन**। खान, पान, व्यवहार हमारा जैसा होगा उसी प्रकारकी हमारी प्रवृत्तिभी बनेगी। यदि हमारे जीवनमें आर्थिक पवित्रता नहीं रहेगी तो हमारा मनभी पवित्र नहीं बन पायेगा। अतः हमारे वेदोंका आदेश है- **"अग्ने नय सुपथा राये"** हे प्रभो ! हमें सुपथसे वैभव की प्राप्ति हो।

विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

हे प्रभो ! हमारे समस्त कर्मोंको आप स्वयं जानते हैं। भगवान्से हमारे हृदयकी कोई बात छिपी नहीं रह सकती।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो नित्यं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥
[अथर्ववेद ४।१६।२]

चलना, उठना, बैठना, परस्पर विमर्श करना, व्यवहार करना आदि सभी क्रियाओंको परमात्मा अच्छी तरह जानता है। उससे अतिरिक्त संसारमें कुछभी नहीं है। भगवान्के दूत हाथमें पाश लेकर पापियोंको बाँधने हेतु सर्वत्र तत्पर रहते हैं।

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित् पश्यतीति नः।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तर पूरुषः॥
[मनु० ८।८५]

पापात्मा लोग विचार करते हैं कि मेरे पापको कोई नहीं जानता है, पर यह मात्र उनका भ्रम है। उनके पापोंको देवगण देखते हैं तथा अन्तर्यामी रूपसे परमात्मा स्वयं देखता है।

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ।।
[मनु० ८।८६]

द्युलोक, पृथिवी, जल, सूर्य, चन्द्र, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्यायें तथा कर्मफलदाता यम सहित परमात्मा समस्त प्राणियोंके कर्मोंको देखते हैं।

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यते।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ।। [मनु० ८।९१]

अधर्म करने पर उसका फल तत्काल भले न मिले पर मिलेगा अवश्य। शनैः-२ वह घुन की तरह जीवनके समस्त सुखको समाप्त कर देता है और समूल नष्ट हो जाना पड़ता है। जिस प्रकार बोया हुआ बीज तुरन्त अंकुरित नहीं होता, उसीप्रकार धर्माधर्म की भी बात है।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।।
(मनु० ४।१७२)

जुहुराणम् एनः अस्मद् युयोधि—कुटिलतापूर्ण वृत्तिसे हम दूर रह सकें, इसी कृपाकी धारा मुझपर गिरायें। संसारमें निन्द्य कर्मोंसे हमको दूर करें। मुझमें अपनी भक्तिरूपी अमृतकी वर्षा करें जिससे हम शुभकर्मों का चिन्तन करनेमें समर्थ हो सकें, जिससे हमारा जीवन कृतार्थ हो जाय।

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासुधत्तम्।
(अथर्ववेद ५।६।८)

मनकी वृत्तियाँ बड़ी चञ्चल हैं। इनको ठीक करनेके लिए पहले निर्मल मन होना अति आवश्यक है। अन्तःकरणकी निर्मलता अनेक पापोंसे बचाती है। गोस्वामीजी कहते हैं—निर्मल मन जन सो मोंहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।। भगवान्की कृपा एवं भक्ति सरलता दीनता, आदि जबतक नहीं आती तबतक जीवनमें स्थिरता भी नहीं आती। जबतक स्थिरता नहीं आती तबतक विश्वास एवं दृढ़ता भी नहीं आती।

भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।

यह मूलमें पूर्णरूपसे भक्तकी शरणागति कही गयी है। वन्दन भक्तिके द्वारा स्वाभाविक रूपसे मनमें नम्रता आती है। प्रणाम की भावना मनमें आते ही सहजही में हृदय द्रवित होता है। एक बार यदि कोई रुष्टभी हो गया हो तो प्रणाम करनेपर वह सरल हो जाता है और अपराध होनेपर भी उसका परिहार करके कृपा ही प्रदान करता है। वैदिक मुनियों, ऋषियोंने इसी प्रकारकी कृपा लोगों पर की है। बिना अनन्य भक्तिके, बिना पूर्ण समर्पणके, बिना शरणागत हुए केवल कर्म अथवा ज्ञानसे भगवान्‌को अथवा उसकी कृपाको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इस शरणागतिमें अहंकार अत्यन्त बाधक है, दैन्य इसका भूषण है। अतः इस मन्त्रमें विनम्रतापूर्वक भगवान्‌की शरणागति कही गयी है।

यदि साधक की उपासना उच्चकोटि की है, अनन्य भक्ति एवं अनन्य निष्ठा प्रभुके चरणोंमें विद्यमान है, तो वह भगवान्‌का कृपा-पात्र बन जाता है और उसके जीवनकी जरनि, दुःख, क्षोभ आदि सब नष्ट हो जाते हैं।

अतः स्पष्ट हो गया कि जो भगवत् कृपापात्र बन गया तो उसके जीवनमें कष्ट या दुःख कहाँ रह जाता है।

भगवान् तो स्वयं अनुग्रहपूर्वक कहते हैं कि—

करउँ सदा तिन्ह की रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।

[रा० मा०]

भक्तके योग क्षेमका वहन स्वयं प्रभु करते हैं। भगवान् तो अपने भक्तके लिए सबकुछ करनेको तैय्यार रहते हैं। भक्तके मंगलके लिए प्रभु स्वयं बिक भी जायें तो उनको कष्ट नहीं होता। अर्जुनकी उन्नति अर्थात् विजयके लिए भगवान् महाभारतमें स्वयं सारथी बन गये। अपने भक्तका मन रखनेके लिए विदुरकी कुटीमें जाकर साक का भोग लगा दिये, जबकि मेवाका भोग त्याग दिया। भगवान् शबरीके आश्रमपर जाकर बेर भी खाकर उसको भी गौरव प्रदान किये यह उनकी अविरल कृपा ही कही जायेगी।

भगवान् कहते हैं कि जो भी मेरे शरणमें आ जाता है उसे मैं अभय प्रदान करता हूँ। यह भगवान्का व्रत है। भगवान्की शरणमें जाने वाला भक्त तो निर्भय होकर विचरता है। उसके भय, शोक, मोह, संसारके विषय बाधित नहीं करते। यदि वह भक्तिपूर्वक भगवत्-शरणागति स्वीकार कर लिया है तो उसका जीवन पूर्ण कृतार्थ हो गयाहै।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।

साम की ऋचामें यह शरणागति का वर्णन बड़े ही समारोहके साथ किया गया है।

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः। यस्य त्वं सख्यमाविथ। [ऋगवेद ८।१६।३०]

हे प्रभो! जिस भक्तको आप मित्र रूपमें स्वीकार कर लेते हैं अथवा जिसपर आपकी कृपा हो जाती है वह आपकी वीरतापूर्ण रक्षाओं एवं आपके अलौकिक बलशाली कर्मोंसे सभी दुःखसे पार हो जाता है। भगवत् कृपा जीवनका अमृत है और अकृपा मृत्यु है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
(यजुर्वेद २५।१३)

अर्थात् समस्त विश्व जिसकी उपासना करता है। समस्त देवता एवं विद्वान् जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं। जिसकी छाया अथवा कृपा अमृत है और जिसकी अकृपा मृत्यु है, जो आत्मिक और शारीरिक बल प्रदान करने वाला है ऐसे सुख-स्वरूप परब्रह्मकी भक्तिपूर्वक अनन्य-भावसे अर्चना एवं उपासना करते हैं। इस मन्त्रमें भगवत् प्राप्तिका साधन और अनन्य भक्ति बतलाई गयी है। गोस्वामीजीने गीतावलीमें कहा है—**शीतल सुखद छाँह तेहि कर की मेटति पाप ताप माया।**

गीतामें भगवान् के श्रीमुख की वाणी है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।। (गीता ८।२२)

अर्थात् हे पार्थ ! वह परम कृपालु पुरुष जिसमें यह समस्त भूत स्थित है, जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण सृष्टिका विस्तार दृश्य है और जिसके द्वारा निर्माण किया गया है, वह अनन्य भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। गीता की यह महत्वपूर्ण पंक्ति अपने आप में समस्त संसारको एकमात्र भगवत् आश्रय प्रदान कराती है। भगवान् को जीव के समीप लाकर खड़ा कर देती है। जहाँ संयमी तथा प्राणिमात्र में समबुद्धि रखने वाले व्यक्ति के जीवनमें एक आशा की किरण दिखाई पड़ने लगती है और वह आश्वस्त हो उठता है कि भगवान् की कृपा हम पर हो सकती है।

साधक उस सर्वव्यापी अविनाशी,अनिर्वचनीय, अव्यक्त अर्थात् निराकार, अचल, सदा एकरस अपने परमानन्द स्वरूप में रहने वाले ध्रुव नित्य परमात्मा की उपासना अपने मन और इन्द्रियों का संयम करते हुए समस्त प्राणियों में समानभाव रखते हुए या सब पर दया भाव रखते हुए वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।

आज हम अपनी एकाग्रता एवं पवित्रता को भूलकर मात्र स्वार्थ की ओर भाग रहे हैं। उपासना मात्र स्वार्थ परक रह गयी है। अर्थोपार्जन इस समय सबसे बड़ी उपासना बन गयी है। हमारी साधना में अब कुण्ठा आ गयी है। अतः जितना आध्यात्मिक लाभ हमें होना चाहिए नहीं हो रहा है। आज जो लोग यह समझते हैं कि हम वर्णाश्रम की परम्परा तोड़कर बहुत आगे बढ़ रहे हैं वे भ्रममें हैं। हमारा अनुशासन, साधना, सामाजिक स्तर न्यून होता जा रहा है। वर्णाश्रम का यह अर्थ कभी भी नहीं रहा हैं कि कोई नीच और ऊँच हैं बल्कि उसका अर्थ यह रहा है कि हम सभी यथा समय अपना कर्तव्य कर रहे हैं या नहीं। आज वह छबि हमारी नहीं रह गयी है, जो उत्कर्षपूण हमारी रही है। जब मानव सब ओर से निराश हो जाता है तो उसको भगवत्शरण मात्र रह जाता है। अतः संशय और द्विविधा को त्याग कर आगे आना चाहिये।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। गीता १८।६२

हे भारत ! सर्वभाव से उस परमेश्वर की शरणमें जाओ। उसकी कृपा से परमशक्ति, शाश्वत स्थान (सनातन) परमधाम को प्राप्त होगे । भगवान्में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास हो जाना उपासना का एक विशिष्ट अङ्ग है, जो हमारी आस्था का केन्द्र रहा है। वेदोंमें तो भक्ति एवं उपासना की चर्चा सर्वत्र की गयी है ।

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि ।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ।। [अथर्व० ६।१।१]

हे स्थिरमति योगिन् ! समग्र संसारको रक्षक एवं प्रेरणा प्रदान करने वाले परमात्मा की प्रार्थना करो ! उसका बृहद् गुणगान करो। अधिक कीर्तन और भजन करो । उस तेजोवान् पुरुषके तेज को धारण करो । सूर्यके जनक या प्रकाशक सूर्यके भी सूर्य परम देदीप्यमान सविता देव अर्थात् परमात्मा की उपासना का निर्देश किया गया है । भगवान् का निवास तो वहीं होता है जहाँ उनका कीर्तन होता है । वहीं भगवान् रहते हैं ।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।। पद्मपुराण

हे नारद ! मैं न तो वैकुष्ठमें निवास करता हूँ और न ही मैं योगियों के हृदयमें । मेरे भक्त जहाँ मेरा कीर्तन करते है वहीं मैं निवास करता हूँ । जीवन में तेजस्वी बनना चाहिए।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ।
[श्वेताश्वतर २।२, यजु० ११।२]

योग युक्त समाहित संयमित एवं विषयोंसे विरक्त होकर समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले तथा उसका पालन करने वाले परब्रह्म की आज्ञा से उसके निर्देशों नियमों एवं वेदान्त आदेशों के अनुसार सुवर्ग अथवा विशेष सुख ऐश्वर्य एवं वैभव की प्राप्ति के लिए अपनी पूर्ण शक्ति से हमें प्रयत्नशील होना चाहिए। हमारे जीवन का उद्देश्य विधेय एवं जीवन दर्शन का रूप यही होना चाहिये ।

योग युक्त मन का तात्पर्य लाभ, हानि, सुख-दुख, विजय-पराजय आदि में समबुद्धि होना, प्रत्येक प्राणीके प्रति समत्व का भाव रखना तथा चित्त की वृत्तियों के निरोध एवं इन्द्रियों के विग्रह से प्राप्त मन की संयमित, अचंचल एवं शान्त अवस्था से है।

यहाँ यह भी चिन्त्य है कि कर्म और ज्ञान का समुच्चय जीवन में अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान एवं उपासना तथा भक्ति का समुच्चय भी जीवन में आवश्यक है। जब तक मस्तिष्क में विविधता का दौड़ लगता रहेगा तब तक हमारा मंगल होना वड़ा ही कठिन एवं दुष्कर है। अतः हमारा मस्तिष्क और हृदय एकही ओर दृढ़ होना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना सफलता मिलना अति कठिन है।

योगियों को समाधिमें इस अवस्था का दर्शन होता है। इसके लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्गयोग की आवश्यकता होती है। "**योगश्चित्तवृत्ति निरोधः**" चित्त की चंचल वृत्तिके निरोध को योग कहते हैं। तो चित्त वृत्तियों का विरोध तभी होगा, जबकि एकही लक्ष्यके दर्शन हेतु हृदय और मस्तिष्क एकाकार का हो जाता है अर्थात् जो मस्तिष्क का विचार हो वही हृदय स्वीकार कर ले। यथा—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। अथर्व १०।२।२६

यहाँ हृदय और मस्तिष्क के सीने का तात्पर्य यह है कि इन दोनों को एक ही लक्ष्य की ओर प्रेरित करना है। इसमें परस्पर प्रतिकूलता और प्रमाद नहीं होने चाहिये।

इसीलिए मन्त्रमें अथर्व शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है चञ्चलता अथवा गति। शरीरसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे मन उत्तरोत्तर चंचल है तो वह मन जब सम्पूर्ण संकल्प विकल्पसे शून्य होकर परम विश्वास रूप अनन्य शरणागतपालक प्रभु श्रीराम की शरण की ओर प्रेरित होता है, तो उसके जीवन के सम्पूर्ण अवरोध जलमल (काई) के समान स्वतः छँट जाते हैं। **न थर्वा-अथर्वा** अर्थात् निश्चल मन वाला हो जाना। वेदान्त में इसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। विशिष्टाद्वैत दर्शनमें

इसे अनन्यशरणागत कहते हैं। शरणागतिकी प्राप्ति हो जानेके पश्चात् कोई कर्म अथवा कर्मफल शेष नहीं रह जाता है।

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

अग्ने ! नय सुपथा राये—इस मन्त्रमें इतना सुन्दर शरणागति-रहस्य प्रतिपादित है कि इसीसे ही मानव जीवन परम विशुद्ध हो सकता है। भगवद्गुण श्रवणही सुपथ है, विशेष रूपसे हृदयका आकर्षण भगवच्चरित्रसे होता है और इसीसे भगवत् सन्मुखता प्राप्त होती है। भगवत् सन्निधि ही भगवत्प्राप्ति है। इसलिए विशेषतया 'सुपथा राये नय" वाक्यमें निर्मल हृदयके साथ भगवत् कृपा आदि अनन्त सद्गुणों की प्राप्ति भी है। यहाँ जीव अपनी असमर्थता और ईश्वरके अपार सामर्थ्य का स्मरण करता है कि प्रभो! मैं सबविधि हीन हूँ, आपकी अनन्य परिचर्या (सेवा) भी नहीं कर सकता। अतः अपने-२ वर्ण-धर्म और आश्रमधर्मके अनुसार ऐश्वर्य एवं वैभवकी प्राप्तिके लिए अपने पूर्ण सामर्थ्यसे निरन्तर प्रयास करें, यही जीवनका परम लाभ है।

अतः मस्तिष्क और हृदयमें ऐसा समन्वय होना चाहिये कि आस्तिकता श्रद्धा, सत्य एवं ज्ञानपूर्वक भक्ति प्राप्त हो सके यही मानव जीवनका परम लक्ष्य है। अपने मंगलके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पुरुषकी विचारशक्ति तथा श्रद्धाभक्ति साथ बढ़े। हमारी शिक्षा-नीति भी इसी प्रकारकी होनी चाहिये और आज हमारे राष्ट्राध्यक्षको भी इसपर ध्यान देना चाहिये कि हमारी वैदिक विरासत उत्तरोत्तर ह्रास की ओर जा रही है। उसके लिए ठोस कदम उठाया जाय, जिससे भारतवर्ष की गरिमा अक्षुण्ण रह सके। इतनाही निवेदन करके मैं अपनी बात भी स्थगित करता हूँ। आगे रामजी की कृपासे जो दो शब्द लिख सका यह उन्हींका प्रसाद है। इसमें जो त्रुटियाँ हैं वह मेरा प्रमाद है। संतजन, सुधीजन उसे सुधार कर लेंगे। यह मेरा निवेदन है।

॥ श्री सीतारामसमर्पणमस्तु ॥

—०—

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्यका १९९२ और ९३ में होने वाले कार्यक्रमों की नामावली एवं विषयों पर जो कृपा-प्रसाद उपदेश आशीर्वचन हुए हैं।

दिनांक २ से ४ अक्टूबर तक भेलसर चौराहा ग्राम मछैला जनपद बाराबंकी श्रीहरिशंकरदास पहलवानके यज्ञमें स्वामीजी की उपस्थिति हुयी, जहाँ यज्ञोंका वैदिक स्वरूप आज समाजको यज्ञोंकी आवश्यकता, यज्ञ विरहित जीवन शून्य है। **'यज्ञो वै रामः'** मानसमें पाँच यज्ञोंकी चर्चा बड़ा ही मनमोहक एवं उपयोगी रहा। लाखों लोगोंकी उपस्थिति रही, उस यज्ञ का उद्घाटन स्वामीजीने किया।

२७ से ३० अक्टूबर नैनी इलाहाबादमें श्री छयलबिहारीदास एवं श्री नरेन्द्रकुमार अग्रवाल जो बड़े सुशील, विद्वान् एवं शक्ति उपासक हैं, इनका पूरा परिवार धार्मिक एवं शाकाहारी है। टेलीफोन अधिशाषी निर्देशक नैनी इलाहाबादके नवरात्र यज्ञमें स्वामीजी ५ दिवस **'नवरात्र'** पर बड़ा ही प्रभावोत्पादक शैलीमें यज्ञ की चर्चा की तथा **'भक्ति और कर्म'** ही आज दानवता का दमन एवं दैवी विभूतियोंके कर्मकी अपेक्षा रखते हैं **'ईश्वर प्रणिधानाद् वा'** की व्याख्या किया। **'सर्वस्व रूपेसर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते'** भक्ति, योग, कर्मके आलम्बन बिना जीव आवागमनसे मुक्त नहीं हो सकता। अतः जीवनमें तीनोंकी अत्यन्त आवश्यकता है।

१६ सितम्बर से १८ सितम्बर १९९२ मऊ रानीपुर जिला जालोन में रामदास ब्रह्मचारी द्वारा आयोजित सम्मेलन ज० गु० रा० हर्याचार्यजी महाराज ने **'भक्ति पूर्वक शरणागति योगसे'** भगवत् प्राप्ति किया जाता है। आचार्य रामानन्द, रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने स्वीकार किया है।

ज०गु० रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचायजी महाराज का दिनांक २६-२८ जनवरी को दिव्यकला संकीर्तन सम्मेलन में बोलते हुए कहा कि **हरिस्मृतिः सर्व विपद्विमोक्षणम्** भगवान् का स्मरण समस्त विपत्तियों से छुटकारा देता है इसकी बृहद चर्चा स्वामीजी ने किया।

२८-२६ फरवरी उरई, एवं करोड़ा लोधीमें राजाराम पचौरी के यहाँ विश्राम एवं कथा स्वामीजी की हुयी। इस अवसर पर ज० गु० रा० स्वामी हर्याचार्यजी महाराज ने अद्‌भुत चर्चा किया जहाँ बीसों हजार लोग मन्त्रमुग्ध हो गये। पचौरी परिवार बड़ाही विद्वान एवं धार्मिक है। वहाँ स्वामी ने भक्ति साधन नहीं किन्तु सुख का स्वरूप है, की चर्चा किया। **भक्ति का फल भक्ति ही है प्रातो व्यमुञ्चदश्बिन्दूननेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः"** भगवान् सुदामा के लिए रोते है। क्रन्दन करते हैं। स्वामीजो ने अद्‌भुत झाँकी उपस्थित किया।

अनन्त श्री विभूषित ज० गु० रा० हर्याचार्यजी महाराज का दिनांक २६-२७ मई को सलेमाबाद श्री जी महाराज निम्बार्क पीठ में पाटोत्सव स्वर्ण जयन्ती पर का पदार्पण हुआ जहाँ चारों शंकराचार्य वैष्णवाचार्य आदि उपस्थित थे। वल्लभाचार्य आदि भी उपस्थित थे। मण्डलेश्वर सन्त महान्त महामण्डलेश्वर आदि सभी की झाँकी थीं वहाँ निर्धारित विषय पर्यावरण, आधुनिक भारत में नारी का गौरव, भक्ति, प्रपत्ति, श्रीराम जन्मभूमि आदि वहाँ स्वामीजी ने चार सभा किया, जो बड़ा भव्य एवं आकर्षक रहा।

प्रियतम हृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या,
पद युगपरिचर्या प्रेयसी वा विधत्ताम्।
ननु भजन विधौ वा निर्विकल्पे समाधौ,
बुध जन इह तिष्ठेत् तदद्वयं तुल्यमेव॥

स तरति, स तरति स लोकांस्तारयति। ५०।ना०भ०सूत्र

वह पार होता है वह मायासे पार होता है उसके द्वारा दूसरे भी माया से पार होते हैं। भक्त मायासे पार होता है। आगे स्वामी जी ने तृतीय सभामें अनुग्रह करते हैं।

वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते। ४९ ना०भ०स०

बड़ी ही मधुर चर्चा स्वामीजी ने प्रस्तुत किया। जो सभी लोग मन्त्रमुग्ध हो गये। बहुत आनन्द आया। जीवन के पुण्यमय क्षण यही थे। मैं सुनकर पूर्ण धारण तो नहीं कर पाता, पर आनन्द बहुत आता है। बाद में मैं स्वामीजी से पूछ लेता हूँ।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्यजी महाराज का ताना बाराछा सुरत गुजरात में श्रीमहान्त स्वामी कल्याणदासजी महाराज के यहाँ दिनांक ६ से ११ मार्च, मारुत मन्दिर—

यहाँ मारुती यज्ञ का सम्पादन बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ जिसमें भारत के बड़े-बड़े मनीषी सन्त महात्मा महामण्डलेश्वर एवं ज०गु०रा० हर्याचार्य ५ दिनांक का समय दिया। जिसमें स्वामी जी महाराज ने यज्ञ की चर्चा करते हुए कहा कि राम शब्द अग्निका भी कारणहै। "**जगत् कारणं ब्रह्मेत्युच्यतेऽनेन सूत्रेण**"। आनन्दभाष्य की चर्चा करते हुए हनुमानजी को एकादश रुद्रके रूपमें प्रस्तुत करते हुए हनुमानजी को सत्य, ब्रह्मचर्य, सेवक धर्म, स्वामी में उच्चकोटिकी निष्ठा, परमभक्त, के रूपमें दर्शाया। ऋगवेद में हनुमान्जी की पूर्ण चर्चा की गयी है। पूरा चरित्र जैसे रामायणमें कार्य किया वह सभी कार्य वेदमें वर्णित है।

आरुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे ।७३। (ऋगवेद १०।६४।८)

सुरत का सम्पूर्ण सन्त मण्डल पधारे और बहुत दत्तचित हो कर स्वामीजी का प्रवचन सुना। उसके बाद यज्ञका उद्‌घाटन स्वामी जी ने किया। पचासों हजार जनता उपस्थित रही। और आनन्द लेती रही एक अलौकिक छटा उस समयमें दृष्टिगोचर हो रही थी। मेरे जीवन में यह ऐतिहासिक सभा थी जिसका दर्शन मैंने किया।

—रमेश दास श्रीवैष्णव

दिनांक २५-८-८२ ई० में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्य का श्रीमद्भागवत पर बहुत सुन्दर प्रवचन हरिधाम गोपाल मन्दिर रामघाट अयोध्या में सम्पन्न हुआ। जिसमें स्वामीजी ने गोपी गीत, भ्रमर गीत, युगल गीत तथा वेद स्तुति पर विशिष्ट चर्चा किया, जो अत्यन्त भावोत्पादक रहा। मैं तो अपने जीवन में शान्त होकर इस प्रकार की कथा आदि श्रवण नहीं किये था। स्वामी जी के शरणमें आने से मुझे बड़ी ही सुख शान्ति मिली। नित्य सरयू

स्नान, गोपालजी का दर्शन, कुछ भजन पूजन, सन्त की वाणी यह सब मिलाकर मैं अपने जीवन को कृतार्थ मानता हूँ। मानव जीवन का उद्देश्य है कि जीव भगवत शरणमें जाय, यह संयोग मुझे अनायास ही प्राप्त हुआ। और अब ईशावास्योपनिषद् पर हरिभाष्य निकल रहा है। मैं वृद्ध होते हुए भी यत्किञ्चित श्रमदान कर पाया, यह मेरे जीवन के सुखद क्षण हैं जिसमें योगदान करके मैं अपने को बड़ा ही गौरवशाली अनुभव करता हूँ।

एक छोटा सा अनुचर
रामनाथदास श्रीवैष्णव
हरिधाम गोपाल मन्दिर रामघाट अयोध्या

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्यजी का
❀ गुजरातमें पुनः पदार्पण ❀

अनादि वैदिक श्रीरामानन्द सम्प्रदायाचार्य गीता उपनिषद् भाष्यकार विद्यावारिधि पूज्यपाद ज०गु० रामानन्दाचार्य स्वामी श्रीहर्याचार्यजी महाराज लगभग ढाई वर्षके बाद महामण्डलेश्वर श्रीमहान्त श्रीशिवरामदासजी महाराज सरयूतीर्थ कर्णावती एवं सूरत नाना वराछा मारुती धामके अध्यक्ष महन्त श्रीकल्याणदासजी खाकीके निमन्त्रणसे पुनः गुजरात पधारे।

कर्णावतीमें पदार्पण :—

दिनांक ४-४-९३ को पूज्यपाद आचार्य चरणोंका पदार्पण महामण्डलेश्वर श्रीमहान्त स्वामी शिवरामदासजी महाराजके निमन्त्रणसे श्रीअवध धामसे साबरमती एक्सप्रेस द्वारा हुआ। रेलवे स्टेशन पर श्रीमहान्त शिवरामदासजीने सदलबलके साथ आचार्य चरणोंका स्वागत किया। इस स्वागतमें यह दास और मेरे बड़े शिष्य एवं स्वामी भगवदाचार्य आश्रमके महान्त श्रीकेशवदासजीके अलावा श्रीपाठकजी, सन्त रामकिशोरदासजी आदि कई सन्त उपस्थित थे। श्रीअवधसे ही परमपूज्य

आचार्य चरणोंके साथ मौनी स्वामी दीनदयालदासजी, सन्त प्रेमदासजी आदि भी इसी गाड़ीमें पधारे थे।

धर्म-सभामें पदार्पण :—

आज ही श्रीजगद्गुरुजी का पदार्पण सोलारोडमें स्थित स्वामी शिवरामदासजी द्वारा संस्थापित श्रीकांकरिया हनुमान मन्दिर राम-धाम आश्रममें श्रीअशोक भट्टजी के व्यास पद पर श्रीरामचरितमानस नवाह्न पारायणके विशाल पण्डालमें हुआ जहाँ हजारों श्रोताजनों ने आपका पुष्पवर्षासे स्वागत किया, जयजयकार से सभा भवन गूँज उठा। आचार्यचरण सिंहासनारुढ़ हुये तत्पश्चात् कथा व्यास श्रीअशोकभट्टजी तथा श्रीमहान्त स्वामी शिवरामदासजी, स्वामी मोहनदासजी और अन्य उनके भक्तोंने वेदमन्त्रों सहित पूजन आरती की, तत्पश्चात् स्वागत प्रवचनके बाद आचार्य चरणोंका श्रीहनुमत्चरित्र पर सुन्दर प्रवचन हुआ।

दिनांक ५-४-६३ की धर्म-सभा :—

आजकी धर्म सभामें गुजरातके शिक्षामन्त्री श्रीनरहरी अमीन श्री हरुभाई मेहता एवं नगरपालिका के अनेक अधिकारियोंने पूज्यपाद आचार्य चरणोंका सत्कार किया और विशाल जनसभा को आचार्य-चरणों सहित सभीने सम्बोधन किया।

शोभा यात्रा :—

दिनांक ६-४-६३ को श्रीहनुमत् जयन्तीके शुभ अवसर पर पूज्यपाद श्रीरामानन्दाचार्य श्रीस्वामी हर्याचार्यजी महाराजकी शोभा-यात्रा स्वामी शिवरामदासजीके तत्वावधानमें निकली, जिसमें अहमदा-बादके सभी माननीय महन्त, सन्त, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर महानु-भाव एवं श्रीविरक्त मण्डलके सन्त महान्त उपस्थित थे। सभीने पूज्यपाद जगद्गुरुजी का पूजन एवं स्वागत किया। श्रीमहान्त स्वामी शिवराम-दासजी अपने विरक्त मण्डल सहित सभी अन्य तड़ोंके आगन्तुक महानु-भावों का स्वागत तथा भेंट वस्त्र लानी से सत्कार किया। स्वामी मोहनदासजी सहित श्रीमहान्तजीके गुरुभ्राता मौनीजी आदि व्यवस्था संभाल रहे थे। श्रीमहान्त स्वामी शिवरामदासजी महाराज आज

सबविधि सम्पन्न एवं समर्थ श्रीमहान्त हैं, अतएव हजारों लोग समारोहमें उपस्थित थे। आज भव्य भंडारा, भूमि पूजन, विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा मारुति यज्ञ आदिका भी आयोजन था। श्रीमोहनदासजी सहित अनेक सन्त व्यवस्था संभाल रहे थे। व्यवस्था बड़ी ही सुन्दर थी। अतः यह तीन दिवसीय महोत्सव बड़ी भव्यताके साथ परिपूर्ण हुआ, जो श्रीरामानन्द सम्प्रदायके लिए एक गौरवकी बात है।

स्मरण रहे कि इस भव्य ज्ञान यज्ञका मंगल प्रारम्भ जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पू० स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्यजी महाराजके परमपावन कर-कमलों द्वारा किया गया था।

मेरे आश्रम में आगमन :—

दिनांक ६-४-९३ को ही सायंकाल ६ बजे सदलबल आचार्यचरण मुझपर कृपा करके मेरे स्वामि भगवदाचार्याश्रम रामधाम में पधारे। यहाँ मेरे शिष्यजन तथा सैजपुरके हरिभक्तोंने आपका सुन्दर स्वागत तथा पूजन किया। रात्रि भोजन और विश्राम यहीं हुआ।

सूरत के लिए प्रस्थान :—

मेरे यहाँ ही सूरतके समीप नाना वराछा मारुति धाम रामजी मन्दिरके महान्त श्रीकल्याणदासजी खाकी की ओरसे श्रीजगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्यजी महाराजको लेनेके लिए गाड़ी लेकर अखिल भारतीय निर्वाणी अनी अखाड़ेके श्रीमहान्त श्रीसन्तसेवक दासजी महाराज आ गये थे। इसलिए दिनांक ७-४-९३ को प्रातः ७ बजे एक और गाड़ी माननीय विष्णुभाई पटेल की लेकर हम सब सूरतके लिए प्रस्थान किये। आचार्य चरण मेरी गाड़ीमें तथा श्रीमहान्तजी और अन्य सन्त जो स्वामीजी की सेवामें आये थे, सूरत वाली गाड़ीमें बैठकर सूरतके महोत्सवमें जानेके लिए प्रस्थान किये।

बड़ोदरा में पधरावनियाँ :—

बड़ौदामें ९ बजे प्रातः आचार्य चरणोंकी पधरावनियाँ मेरे शिष्योंमें हुयीं और बड़ौदासे ११ बजे प्रस्थानकर हम सब मध्याह्न २ बजे सूरत नाना वराछाके मारुतीधाम रामजी मन्दिर पहुँचे। जहाँ

महान्त श्रीकल्याणदासजी ने श्रीचरणोंका पूजन स्वागत किया और पूर्वनिश्चित निवास स्थानमें आपको उतारा गया।

ज्ञातव्य रहें कि इस भव्य महोत्सवमें ब्रह्मपीठाधीश श्रीकाठिया परिवाराचार्य श्री महान्त स्वामी रामकिशोराचार्य जी महाराज का भी पदार्पण हुआ था। श्री रामचरित मानस नवाह्न पाठ पारायणमें छाषी श्रीराम मन्दिर के महन्थ स्वामी रामकिशोर दासजी शास्त्रीके व्यासत्व पद पर चल रहा था जिसमें लगभग ५१ सन्त बैठे थे। सुभव्य मण्डप एवं श्री मारुती यज्ञ का यज्ञ मण्डप अति दर्शनीय था।

शोभा यात्राः—

आजही सायंकाल ६ बजे सुसज्जित रथोंपर परमपूज्य आचार्य चरण एवं श्रीब्रह्मपीठाधीशजी महाराज विराजे थे। बैण्डबाजा हजारों ध्वजा पताका तथा भजन मण्डलियों एवं कलशधारी कन्यायें और विशाल जनसमूह शोभा यात्रामें शामिल था। नगर के मुख्यमार्गों से गुजरती हुयी शोभा यात्रा ७.३० बजे श्री मारुती धाम पहुँची जहाँ आचार्यचरण भगवान् श्रीसीतारामजी का दर्शन करके सुसज्जित व्यास पीठ पर विराजमान हुये।

सर्वप्रथम महान्त कल्याणदासजी ने अपने शिष्यों सहित पूज्य-पाद जगद्गुरुजी एवं श्रीब्रह्मपीठाधीशजी का पूजन एवं आरती किया। उसके बाद श्री काठिया परिबाराचार्यजी महाराज ने आचार्य चरणों का पूजन स्वागत किया।

सूरत के महन्तों की ओर से स्वागतः—

श्रीकाठिया परिवाराचार्य श्रीमहान्त स्वामी रामकिशोराचार्य जी के बाद सूरत के महामण्डलेश्वर जयराम दासजी तथा महामण्ड-लेश्वर स्वामी रामदेव दासजी, महान्त श्रीरामबिलास दासजी, अग्नि अखाडेके माननीय श्रीमहन्त स्वामी योगेशानन्दजी, प्रभृति कई महान्त सन्तोंने श्रीस्वामीजी को फूल माला समर्पित करते हुये स्वागत किया। तत्पश्चात् नगर जनोंने आचार्य चरणोंका स्वागत किया। यह स्वागत समारोह लगभग १ घण्टे तक चलता रहा। आचार्यचरण फूल-मालाओं

से ढ़क दिये गये । सभा का संचालन पाठ व्यास स्वामी रामकिशोर दासजी छाषी बड़ौदा वाले कर रहे थे । उसके बाद विरार भगवद् धामके महन्त स्वामी गंगादासजी, महामण्डलेश्वर स्वामी रामदेवदास जी, महान्त स्वामी रामबिलास दासजी रामस्नेही तथा स्वामी हरी-प्रसादाचार्यजी दादु दयाल आदि के प्रवचनों के बाद पूज्यपाद आचार्य चरणों के अतिधीर गम्भीर वाणी में विद्वतापूर्ण श्री मारुति यज्ञ की वैदिकता पर प्रवचन हुआ जो ५ दिन तक की धर्म सभाओंमें चलता रहा । आपके वचनामृत श्रवण करने के लिए विशाल जनसमूह टूट पड़ता था । सूरत शहर से नाना वराछा मारुती धाम ६ किलोमीटर दूर है फिर भी प्रतिदिन सूरत से माननीय सन्त महन्त तथा लगभग ५ से ७ हजार श्रोताजन पधारते थे । श्रीमहान्त कल्याणदास खाकी की व्यवस्था अति भव्य एवं आचार्य निष्ठा से परिपूर्ण थी । प्रतिदिन वस्त्र और पुष्प बिछाते हुए आचार्य चरणों को धर्म सभामें ले जाया जाता था । बहुत भव्य दृश्य था । निर्वाणी अनी के श्रीमहान्त सन्त सेवक दासजी महाराज तथा इन्दौर के श्री महान्त लाल बाबा श्री रघुबीर दासजी खाको, महन्त रामसुशील दासजी खाकी, श्रीअयोध्या दासजी खाकी, महन्त शान्ती दासजी दिगम्बर आदि अनेक महानुभाव इस महायज्ञ में पधारे थे ।

अखिल भारतीय श्री पंचरामानन्दीय खाकी अखाड़े के श्री महान्त वासुदेव दासजी खाकी अभी तक नहीं पधारे थे । १३-१४ तक आने का समाचार था और न ही श्री टीलाद्वाराचार्य श्रीमंगल पीठाधीशजी का भी पदार्पण हो पाया था ।

पधरावनियां:—

दिनांक ८-४-९३ से ११-४-९३ तक सतत दिनमें आचार्य चरणों की पधरावनियाँ श्री महान्त कल्याण दासजी के शिष्यों और सेवकों में चलती रहीं । आज प्रातः ही चार सम्प्रदाय के श्रीमहान्त विष्णुदासजी, महान्थ स्वामी जयरामदासजी प्रभृति महानुभाव आचार्य चरणों के दर्शनों के लिए पधारे परन्तु आचार्य चरण पधरावनी में

गये थे इसलिए दर्शन नहीं हो सके । मध्याह्न तीन बजे मोरा टेकरा के सम्मानीय महन्त श्रीरामानन्द दासजी भी सदल बल पधारे और आचार्य चरणों का पूजन स्वागत किया था । इसी प्रकार श्रीरघुनाथ पुरा के श्री महन्तजी आदि लगभग सभी सन्त महान्त आचार्य चरणों के दर्शनों को पधारे थे ।

छत्र का समर्पणः—

दिनांक १०-४-८३ के रात्रि की धर्मसभामें लाल दरवाजा श्रीरामजी मन्दिर के वर्तमान महामण्डलेश्वर स्वामी रामदेव दासजी की ओर से आचार्य श्री को एक नवीन छत्र भी समर्पित किया गया था । स्वामी रामदेव दासजी एक आचार्य निष्ठ श्री महान्त हैं । आपके द्वारा लाल दरवाजे में सुन्दर प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं । ११-४-८३ की धर्म सभामें पुनः म० स्वामी जयरामदासजी पधारेथे ।

पांच दिन की धर्म सभायें विशाल जनसमूह एवं सन्त महन्तों की उपस्थिती से भरी-भरी रहती थी । बार-बार करतल ध्वनि द्वारा एवं जय जयकारसे सभा खण्ड गूंज उठता था । प्रतिदिन मैं भी संतों की आज्ञा से बोला करता था । आजकी सभामें स्वामी जयरामदास जी आभार दर्शन करते हुये कहा था कि पूज्यपाद श्रीरामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्यजी महाराज ने श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के दिव्य रहस्यों को जो अपने वचनामृतमें वर्णन किया है वह अवर्णनीय है । आपकी मधुर वाणी ने सबके मनको प्रभावित किया है । आप वास्तवमें एक महान धर्माचार्य हैं । श्रीस्वामीजी महन्त कल्याणदासजी के निमंत्रण से सूरत पधारे और यहाँ की प्रजा को जो दिव्य वचनामृतोंसे पावन बनाया है हम उनके आभारी हैं । आज की धर्मसभा रात्रिके १२ बजे तक चलती रही । श्री रामचरित मानस एवं वेदोंके माध्यमसे आपने सात प्रकारके यज्ञोंका विशद निरुपण किया जिसे सुनकर सन्त महान्त विद्वत् जन तथा समाज चकित हो गया था ।

विदाई समारोह—

१२-४-८३ को प्रातः महन्त श्री कल्याण दासजी की ओरसे एक भव्य विदाई समारोह का आयोजन किया गया था जो अपने

आपमें अद्वितीय था। श्री महन्त जी ने पूज्य जगदगुरुजी सहित हम सबका भेंट, पूजा, वस्त्र तथा लानी देकर भव्य सम्मान किया और अन्तिम आरती जब होने लगी तब जन समाजमें करुणा छा गई। आजही मारुती यज्ञका शुभारम्भ आचार्य चरणोंके कर-कमलों द्वारा किया गया था। यज्ञ मण्डपमें जब आपने संस्कृत भाषामें मारुती यज्ञ वैदिकता पर प्रवचन किया तब विद्वान् सब चकित रह गये। बार-बार जय-जयकारसे आपका अभिवादन किया गया। इस प्रकार पाँच दिवसीय इस भव्य कार्यक्रमको पूर्ण करके जब आचार्यचरण श्रीमारुती-धामसे प्रस्थान करने लगे, तब जनसमूह और महान्त श्रीकल्याणदासजी महाराज सभी रो पड़े। स्वतः आचार्य चरणोंके पावन नेत्र भी सजल हो उठे। सभीने पुनः जयघोष किया और चाचार्यजी महाराज कर्णावती सरयू तीर्थ के लिए प्रस्थान कर गये। महन्त श्रीकल्याणदासजी की आचार्यनिष्ठा, उनकी सुभव्य व्यवस्था और अतिविवेक तथा विनम्रतासे परिपूर्ण व्यवहार और सत्कारसे सभीको परमानन्द था। सभीके उद्-गारोंमें उनके लिए साधुवाद था। समारोह अपने-आपमें अनोखा अद्भुत तथा भव्य था, इस प्रकार ४-४-६३ से श्रीमहन्त स्वामी शिवरामदासजी सरयूतीर्थ कर्णावतीसे प्रारम्भ पूज्यपाद जगद्गुरु रामा-नन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्यजी महाराज की पुनः यह गुजरात यात्रा-प्रथम यात्राकी भाँति धूमधाम और आन्दोल्लासके साथ परिपूर्ण हुयी। पूज्य आचार्यश्री सिंह गर्जना करके भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी का जयघोष कराके १६-४-६३को सरयूतीर्थसे श्रीअवधधामके लिए प्रस्थान कर गये। रेलवे स्टेशन पर आपको भव्य विदाई दी गयी। आपके पदार्पणसे पुनः गुर्जर भूमि पवित्र बनी, यह श्रीसम्प्रदायके लिए गौरव की बात है।

जय जय हर्याचार्य की होती है सर्वत्र।
कह विरक्त आचार्य का जीवन परम पवित्र ॥
जीवन परम पवित्र राम चरनन अनुरागी।
रामानन्दाचार्य महाप्रभु हैं बड़भागी ॥
विनवे रामकुमार सकल जन के हितकारी।
स्वामी हर्याचार्य चरन की है बलिहारी ॥

श्रीखाकी बापू
स्वामी भगवदाचार्याश्रम रामधाम, कर्णावती

❀ चतुष्पदी ❀

त्वदीया या कान्तिर्जनकपुरवामाभिलषिता,
जगद्वन्द्याऽनिन्द्या जनकतनयाया हृदि मता।
यतीनां सर्वस्वं नवनवघनाभातिललिता,
सकृद्रामस्वामिन् ! जगदधिपते गोचरयताम् ।।१।।

हे श्रीरामजी महाराज ! जनकपुरकी सम्पूर्ण सुन्दर स्त्रियोंने आपकी जिस कान्तिको अपना परम अभीष्ट बनाया था, जो कान्ति जगदम्बा श्रीजानकीजीके हृदयमें सदा विराजती है, जो विरक्तोंका सर्वस्व तथा नूतनमेघके समान अत्यन्तसुन्दर है उस (कान्ति) को एक-बार मुझे दिखा दीजिये ।। १ ।।

स्वकीयैः पापौघैर्भवभयमहामोहरजनी—
तमः पारावारे शरणरहितं हन्त पतितम्।
महोजाश्रीस्वामिन् ! सपपि समवेक्ष्यार्तशरण!
ग्रहीतुं मां बाहुं द्रुतमिह समुत्थापय विभो ।।२।।

हे श्रीरामजी महाराज ! अपने अनेक पापोंसे संसारके भय और मोहरूपरात्रिके अन्धकारसमुद्रमें, मुझ दीनको गिरा हुआ देखकर पकड़ने के लिये शीघ्र ही अपना भुज उठाइये ।। २ ।।

गजत्राणे याऽऽसीद्द्रुततमगतिस्तेऽतिसुखदा,
तथा रक्षाकाले जनकतनयाया रघुपते।
अनाथानां नाथ ! स्थितिमिह महागम्यजलधौ,
समीक्ष्य त्रातुं मामपि सपदि तां धारय विभो ।।३।।

हे श्रीरामजी महाराज ! गजराज और श्रीजानकीजीकी रक्षाके समय जो शीघ्रतम गति आपकी थी अर्थात् आपने अपनी जिस शक्तिके द्वारा इन दोनोंकी शीघ्र रक्षा की थी, हे अनाथोंके नाथ ! मुझे इस संसाररूप अगाध समुद्रमें डूबते देखकर बचानेके लिये शीघ्रही उसी गतिको धारण करें।। ३ ।।

यमाप्तुं प्राचीना मुनय ऋषयश्चापि सकला,
जगद्भावैः खिन्ना वनतरुषु वासं विदधिरे।
अहं रामस्वामिन् ! भवभयहर ! प्रार्थय इदम्,
तमेवाद्य प्रेक्षे चरणविमलालोकमधुना ।।४।।

हे श्रीरामजी महाराज ! आपके श्रीचरणोंके जिस उज्ज्वल प्रकाशको पानेके लिये प्राचीन ऋषियों और मुनियोंने संसारसे उदासीन होकर जगलोंमें निवास किया था, उसी प्रकाशको मैं भी देखूं, हे भव-भयभञ्जन ! यही प्रार्थना है।। ४ ।। स्वामि भगवदाचार्य महाराज

।। श्रीरामो विजयतेतराम् ।।

❀ श्रीसम्प्रदायाचार्याणां परम्परानुक्रमणिका ❀

प्रथमे कारणं रामः श्रीसीताथ द्वितीयके ।
आञ्जनेय विधिश्चाथ वशिष्ठर्षि हि पञ्चमे ।। १ ।।

पराशरोऽथ वै व्यासः शुकाचार्यो हि सप्तमे ।
बोधायनो महायोगी ततो गंगाधरोऽभवत् ।। २ ।।

सीतारामपदाशक्तः सदाचार्यस्ततो महान् ।
तस्माद्रामेश्वराचार्यो द्वारानन्दः प्रतापवान् ।। ३ ।।

देवानन्दमहाचार्यात् श्यामानन्दस्तु भक्तिमान् ।
ततो जातो महायोगी श्रुतानन्दस्तु योगिराट् ।। ४ ।।

चिदानन्दः स्वरूपज्ञः पूर्णानन्दस्ततोऽभवत् ।
श्रियानन्दो बहुशिष्येषु हर्यानन्दो बभूव ह ।। ५ ।।

राघवानन्दस्ततः प्राप्तो रामानन्दं स्वयं हरिम् ।
प्रस्थानत्रयभाष्यञ्च कृतं संसार हेतवे ।। ६ ।।

श्रीरामानन्दमताधारः शास्त्रालोडनतत्परः ।
श्रीमद्भगवदाचार्यः पण्डितेड्यः सदा हृदः ।। ७ ।।

वेदवेदान्ततत्वज्ञः सीतारामपदे रतः ।
आचार्यः शिवरामश्च जातः शान्तस्वरूपवान् ।। ८ ।।

बहूनां भाषाणामधिपतिरुदग्रस्त्वमसि वै,
बहूनां विज्ञानां त्वमसि परमं मित्रमधुना ।
बहूनां भीतानां त्वमसि शरणं विश्रुतमहो,
सदा हर्याचार्यो यतिपति सुरूपो विजयते ।। ९ ।।

—आचार्य रामदेवदासकृता

-❀-